तित्थयर

जैन भवन

वर्ष : २३ अंक : १—६
अप्रैल—सितम्बर १९९९

ज्ञानी होने का सार यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

Sethia Oil Industries Ltd.

Manufacturers of De-oiled Rice Bran, Mustard Deoiled Cakes, Neem deoiled Powder, Ground-nut De-oiled Cakes, Mahua deoiled cakes etc. And Solvent Extracted Rice Bran Oil, Neem Oil, Mustard Oil etc.

Plant
Post Box No. 5
Lucknow Road
Sitapur - 261001 (U.P.)
Ph: 42017/42397/42073
(05862)
Gram - Sethia - Sitapur
Fax : 42790 (05862)

Registered Office
143, Cotton Street
Cal-700 007
Ph: 2384329/
8471/5738
Gram - Sethia Meal

Executive Office
2, India Exchange Place
Calcutta - 700 001
Ph: 2201001/9146/5055
Telex : 217149 SOIN IN
FAX : 2200248 (033)

तित्थयर

''विशिष्ट अंक''

'संस्कृति का आदि स्रोत - जैनधर्म'

संपादिका
लता बोथरा

॥ जैन भवन ॥

जैन भवन
कलकत्ता

वर्ष - २३ अंक - १-६ अप्रेल-सितम्बर १९९९

महावीर जयन्ती विशेषांक

लेख, पुस्तक समीक्षा तथा पत्रिका से सम्बन्धित पत्र व्यवहार के लिये पता -
Editor : **Tithayar**, P-25 Kalakar Street, Calcutta - 700 007

विज्ञापन तथा सदस्यता के लिये कृपया सम्पर्क करें -
Secretary, Jain Bhawan, P-25 Kalakar Street, Calcutta - 700 007
Subscription for one year : Rs. 55.00, US $ 20.00,
for three years : 160.00, US $ 60.00.
Life Membership : India : Rs. 1000.00, Foreign : US $ 160.00.

Published by Lata Bothra on behalf of Jain Bhawan from
P-25 Kalakar Street, Calcutta - 700 007, Phone : 2382655,
Printed by her at Arunima Printing Works, 81 Simla Street
Calcutta - 700 006, Phone : 241 1006 and Composed by Compu
Laser Graphics, 9, Srimani Ghat Lane, Rishra-712248, Hooghly.

मूल्य-२४रूपये

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	लेख	लेखक	पृ. सं.
१.	सम्पादकीय		५
२.	संस्कृति का आदि स्रोत- जैन धर्म	लता बोथरा	९
३.	श्री अष्टापद जी-एक संभावना	श्री भरत हंसराज शाह	४१
४.	जैन धर्म की प्राचीनता	मुनि महेन्द्र कुमार जी प्रथम	४९
५.	अष्टापदगिरि-कल्प	अनुवाद- श्री भंवरलाल नाहटा	६३
६.	मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण	मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज	६९
७.	ऋषभनाथ की तीर्थयात्रा	डा. श्री रंजन सूरिदेव	८२
८.	विदेशों में जैन धर्म	डा. ज्योति प्रसाद जैन	१०५
९.	मथुरा के जैन साक्ष्य	डा. रमेश चन्द्र शर्मा	१०९
१०.	ऋषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ	डा. रामकुमार जैन	१२२
११.	क्या ऋषभदेव, पुरी के जगन्नाथ है ?	डा. राजीव कुमार जैन	१५५
१२.	जैन धर्म का प्रसार	श्री के. रिषभ चन्द्र	१६२
१३.	संकलन		१८९

आवरण चित्र - श्री अष्टापद (कैलाश)
छायाकार - श्री भरत हंसराज शाह

श्री अष्टापद (कैलाश) के सभी चित्र श्री भरत हंसराज शाह द्वारा लगभग ४ कि. मी. की दूरी से लिये गये हैं।

अहोमुचं-वृषभ यज्ञियानां विराजंतं प्रथममध्वराणाम् ।
अपां न पातमश्चिना हुँवे श्रिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तभोजः ॥
– अथर्ववेद, १९।४२।४

समस्त पापों से मुक्त, यज्ञमें अवस्थित प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव को मैं आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

सम्पादकीय

नित्यानुभूत निज लाभ निवृत्त तृष्णः
श्रेय स्यतद्र चनया चिर सुप्त बुद्धेः
लोकस्य यः करुण या मय मात्म लोक
माख्यान्न भो भगवते ऋषभाय तस्मै ।

भागवत पुराण

निरन्तर विषय भोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगों को जिन्होंने करुणा वश निर्भय आत्मलोक का उपदेश किया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्म स्वरुप की प्राप्ति के कारण सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे उन भगवान ऋषभदेव को नमस्कार है ।

प्रस्तुत विशेषांक में मैने 'संस्कृति का आदि स्रोत है- जैन धर्म' इस तथ्य पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है । जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव (आदिनाथ) विश्व की सभी संस्कृतियों द्धारा मान्य तथा किसी न किसी रूप में उपास्य हैं । जैन दर्शन में २४ तीर्थंकर हैं जिनके पंच कल्याणकों को तीर्थ स्थान माना जाता है विशेषकर जन्मस्थल और निर्वाण स्थल पर बड़े बड़े विशाल स्तूपों-चैत्यों आदि का निर्माण किया जाता है । स्वामी दयानन्द सरस्वती भी मानते है कि मंदिरों एवं मूर्तियों का निर्माण सबसे पहले जैनियों ने प्रारम्भ किया था । भारतवर्ष में आज जितने भी बड़े-बड़े जैन तथा जैनेतर तीर्थ हैं जैसे बद्रीनाथ, केदारनाथ, अमरनाथ, तिरूपति, उड़ीसा के जगन्नाथ सब अर्हत संस्कृति के प्रतीक हैं । ऐतिहासिक अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि ये तीर्थंकर सभी धर्मावलम्बियों द्धारा किसी न किसी रूप में पूजे जाते हैं । इसका सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण बौद्धों द्धारा अर्हत तीर्थंकरों को बुद्ध के रूप में पूजा जाना है । सारनाथ सांची आदि के स्तूप जैन होते हुए भी बौद्ध

परम्परा में भी मान्य है। इसी श्रेणी में कैलास पर्वत का विवरण आता है। जो प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का निर्वाण स्थल है। जहाँ की यात्रा हर वर्ष अनेकों यात्री करते है। यह क्षेत्र शिव के नाम से भी जुड़ा हुआ है। तिब्बती भाषा में शिव का अर्थ मुक्त होता है इसलिये भगवान ऋषभदेव को पुराणों में शिव के नाम से भी अभिहित किया गया है।

कैलाश पर्वते रम्ये वृषभों यं जिनेश्वर
चकार स्वारतारं यः सर्वज्ञ सर्वगः शिवः।
(स्कन्धपुराण कौमार खं अ० ३७)

केवल ज्ञान द्धारा सर्वव्यापी सर्वज्ञाता परमकल्याण रूप शिव वृषभ ऋषभदेव जिनेश्वर मनोहर कैलाश अष्टापद पर्वत पर पधारे।
तिब्बती भाषा में लिग का अर्थ क्षेत्र होता है।

It maybe mention that linga is a Tibetan word of land (S.K. Roy- Historic Indian & Ancient egypt, Pg.28).

तिब्बती लोग इस पर्वत को पवित्र मानकर अति श्रद्धा के साथ पूजा करते हैं तथा इसे बुद्ध का निर्वाण क्षेत्र कागरिक पौंच कहते है। यहाँ बुद्ध का अर्थ अर्हत से है जो बुद्ध अर्थात ज्ञानी थे। श्री ऋषभदेव ने माघ कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि को कैलाश पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था। आज भी इसी रात्रि को प्रभु ऋषभदेव के निर्वाण कल्याणक की पूजा के प्रतीक के रूप में महाशिवरात्रि का पर्व मनाया जाता है।

शिवलिंग का अर्थ मुक्त क्षेत्र अर्थात् मोक्ष क्षेत्र होता है। शिव भक्त भी लिंग पूजा करते हैं जो प्राचीनकाल में भी प्रचलित था।

In fact shiva and the worship of Linga and other features of Popular Hinduism were well established in India long before the Aryans came (K.M. Pannekar- 'A survey of Indian History', Pg-4).

बाद में तान्त्रिकों ने इसका अर्थ शिव ऋषभ के चरित्र अर्हत धर्म

के विपरीत बनाकर विकृत कर दिया। लिंग का अर्थ क्षेत्र के रूप में न रहकर पुरुष जननेन्द्रिय के अर्थ में लिया जाने लगा। इस पर्वत पर तपस्या के फलस्वरुप प्राप्त आत्मसिद्धि को पार्वती नाम से एक स्वतन्त्र स्त्री के व्यक्तित्व का रुप दे दिया और उस स्त्री की जननेन्द्रिय में पुरुष जननेन्द्रिय को स्थापित कर इस नयी आकृति को शिवलिंग कहने लगे। इस बात को उस समय के अशिक्षित और अज्ञानी लोगो ने आसानी से ग्रहण कर ली। आवश्यक शास्त्र में महेश्वर और उमा के उपाख्यान से इस बात की पुष्टि होती है। आत्मसिद्धि रूप द्वादशांग वाणी से प्राप्त गणपति (गणधर) तथा षण्मुख (षडद्रव्यात्मक) रुप को क्रमशः हाथी की सूंड़ वाले लम्बोदर गणेश तथा छः मुख वाले कार्तिकेय की मानव आकृतियों का रूप देकर शिव और पार्वती की संन्तान रूप कल्पना कर डाली। इस प्रकार शैव लोगों ने तांत्रिक उपासना के लिये संसार संहारक शिव के शिवलिंग को जननेन्द्रिय रुप में कल्पित करके संसार सर्जक बना डाला।

कल्हण ने राजतंरगणिनी में गणपति या गणेश का अर्थ गणों का अध्यक्ष बताया है। ऋग्वेद (२:२३:१) में भी गणनाँत्वा गणपति उल्लेख किया गया है। जैनागमों में गण अर्थात् मुनियों के समूह और गण के नेता को गणधर कहा जाता है। प्रत्येक तीर्थंकर के गणधर होते थे जो सूंड़वाले गणेश नही वरन् पूर्ण मानव थे।

श्री भरतशाह ने श्री अष्टापद (कैलाश) और मानसरोवर की तीन बार यात्रा की तथा उन्होंने वहाँ के अनेक चित्र लिये जिनमें से कुछ चित्रों को इस विशेषांक में दर्शाया गया है। इस सन्दर्भ में उनका सारगर्भित लेख भी प्रस्तुत किया गया है जिसमें अष्टापद और कैलाश की जानकारी हमारे लिए एक नये चिन्तन और शोध का मार्ग प्रशस्त करती है। समाज के समस्त अग्रणीजनों से मेरा निवेदन है कि इस ओर ध्यान दे। ये खोजें प्रत्येक भारतीय को उनकी मूल संस्कृति से जोड़ने में एक महत्वपूर्ण आधार बनेगी ऐसा मेरा विश्वास है। इसके लिए हम सबको एकजुट होकर प्रयास करना होगा।

इस विशेषांक पर जब मैने कार्य करना प्रारम्भ किया था उसी

समय मुझे कोबा में हो रहे दीक्षा महोत्सव पर जाने का सौभाग्य मिला। परमपूज्य आचार्य श्री पद्मसागर सुरीश्वर जी महाराज साहब के आर्शीवाद से मुझे वहाँ के संग्रहालय के डायरेक्टर श्री बालाजी साहब गणोदकर द्वारा अष्टापद कैलाश का चित्र तथा उनके द्वारा ही श्री भरत शाह का परिचय मिला। उनके इस सहयोग के लिये मैं उनकी बहुत आभारी हूँ। प्रो॰ डा॰ सत्यरंजन बनर्जी तथा जैन भवन के सभी ट्रस्टीगण विशेषकर श्री दिलीप सिंह नाहटा और श्री पवित्र कुमार दूगड़ द्वारा हर सम्भव सहयोग एवं प्रेरणा मिली। श्री भूपराज जैन, श्रीमती माला बैद और श्री पद्म चंद नाहटा जिन्होंने विशेषांक की फोटो प्रिंटिंग में अपना अमूल्य समय दिया इसके लिये मैं उनकी विशेषरूप से कृतज्ञ हूँ।

संस्कृति का आदि स्त्रोत- जैन धर्म

लता बोथरा

भारतीय जीवन का प्रवाह सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक जिन नियमों और नियन्त्रणों के सहारे चल रहा है वही संस्कृति का आदि स्त्रोत कहा जा सकता है और जो विश्व के विभिन्न प्रचलित धर्मो और संस्कृतियों का भी आदि स्त्रोत है । प्राचीनकाल से अविच्छिन्न रूप में चली आ रही यह जीवंत परम्परा आज भी जैन धर्म के रूप में विद्यमान है । यद्यपि जैन शब्द का प्रयोग ७वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ परन्तु इसकी प्राचीनता ही इसकी विशेषता है । वर्तमान समय में संख्या में अल्प होते हुए भी इसका प्रभाव समस्त धर्मों और विश्व की सभी प्राचीनतम संस्कृतियों में परिलक्षित होता है । डा: ज्योति प्रसाद जैन के शब्दों में "जैन धर्म एक ऐसी सनातन धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है जो शुद्ध भारतीय होने के साथ ही प्राय: सर्व प्राचीन जीवन्त परम्परा है । उसके उद्गम और विकासारम्भ का बीज सुदूर अतीत प्रागैतिहासिक काल में निहित है । मानव जीवन में कर्म युग के प्रारम्भ के साथ ही साथ इस सरल स्वभाव आत्मधर्म का भी अविर्भाव हुआ था ।" श्री अजितकुमार शास्त्री ने अपने लेख 'जैन संस्कृति का सरल अध्ययन' में लिखा है कि "विश्व के सभी धर्मो का निरीक्षण एवं परीक्षण किया जाये तो जैन धर्म की सत्ता सबसे प्राचीन सिद्ध होती है तदनुसार जैन संस्कृति संसार में प्राचीनतम है ।"

इतिहास अपने युग का दर्पण होता है । जिस काल की जैसी परिस्थिति हो उस काल का वैसा ही वर्णन इतिहासकारों को करना चाहिये । दुर्भाग्य वश हमारे देश के इतिहासकारों ने अपने देश के इतिहास के साथ जितना अन्याय किया है उतना शायद अन्य कहीं भी नहीं हुआ है । इस सन्दर्भ में मैं यह कहना चाहूँगी कि जैन धर्म के साथ भारतीय इतिहासकारों ने बहुत ही अन्याय किया है । उन्होने वेदों और

पुराणों को ज्यादा महत्व दिया है । प्राप्त इतिहास द्वारा प्राग्वैदिक की संस्कृति और समाज के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता । यदि श्रमण साहित्य वैदिक लेखों से अलग दीखते हैं तो पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर वैदिक स्रोतों को ज्यादा महत्व दिया गया है । पुरातत्व वेत्ताओं की अल्पज्ञता, पक्षपात तथा उपेक्षा के कारण भी जैन पुरातत्व सामग्री को अन्य मतानुयायियों का रंग दे दिया गया है । हम यह भी कह सकते हैं कि भारतीय इतिहासकार वैदिक और श्रमण स्रोतों को समान रूप से देखने में असफल रहे हैं । यहाँ तक कि उन्होंने उन प्राचीन विदेशी इतिहासकारों के वर्णनों को भी अनदेखा कर दिया जिन्होंने समकालीन भारतीय समाज का चित्रण किया है । प्राचीन विदेशी स्रोतों तथा लेखको के वर्णनो को हम इसलिए महत्वपूर्ण मानते हैं कि वो ना तो यहाँ के शासक थे ना ही ब्राह्मण या श्रमण थे । उनके लेख सूचनापरक हैं तथा भारतीय इतिहास को सही रूप से जानने एवं लिखने के एक महत्वपूर्ण स्रोत बन गये हैं ।

"The available histories of Bharata suffer from three defects. Firstly they present a biased view...the court historians and the subject historians are un-reliable Secondly, almost all the historians-neglected the pre Aryan history of Bharat. Three foriegn conquests the Aryan, the Turko Afgan and the British changed the course of history and the texture of the Culture and civilization of Bharata. The history and texure of the culture & civilization of the Pre-Aryan Bharata is conveniently forgotten. Thirdly, the Indian historians are generally undialectical and unchronological in writing the history of Bharat specially its cultural History. The reason lies in the failure of the Bharatiya historians in taking full and complete view of the gradual progress of Bhartiya life through the ages. The Bhartiya Historians give undue weightage to the vedic and Puranic sources–They by and large failed to present the balanced view of the Bhartiya history with the critical and comparitive use of these

sources. Just for this reason, they have failed to rightly appreciate the foreign sources and specially the greek sources". –R. K. Jain from the 'Preface of Ancient India as described by Magesthenes' (Revised by R. C. Jain.).

यदि विदेशी लेखकों के वर्णनों को पूर्ण तर्क संगत नहीं भी माने तो भी एक विश्वसनीय आधार माना जा सकता है तथा उनकी महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। मैगस्थनीज, टोलमी, एरियन एवं प्लीनी आदि इतिहासकारों के लेखों में हमें आर्य पूर्व भारतीय संस्कृति का जो चित्रण मिलता है वह एक ऐसा प्रमाण है जो हमें आदि संस्कृति के मूल स्त्रोत को समझने में या स्थापित करने में मार्ग दर्शक हो सकता है।

भारत का इतिहास विधिवत रूप से सिकन्दर के आक्रमण के समय से प्राप्त होता है। ब्रह्म आर्यों के आक्रमण के पश्चात् यूनानी आक्रमण का बहुत महत्व है। सिकन्दर के साथ अनेक यूनानी विद्धान भी भारत आये थे। मैगस्थनीज जो चन्द्रगुप्त के दरबार में सेल्यूकस का दूत बनकर आया था उसकी 'इन्डिका' एक विश्वसनीय ग्रन्थ मानी जाती है जो आज पूरी उपलब्ध नही है फिर भी उसके कुछ भाग मिलते हैं जो भारत की तत्कालिन संस्कृति और इतिहास जानने का एक बड़ा साधन हैं।

"The Greek records which shows that the Alexander the great had heard of the wise sraman, The naked monks whom the Greeks reffered as Sophists." ....Dr. Bhuvannendra Kumar.

मैगस्थनीज के उल्लेखों में समनीक शब्द श्रमण शब्द का अपभ्रंश है। श्रमणों से सिकन्दर अत्यन्त प्रभावित था। कालोनिस और दण्डामिस नामक मुनियों का वर्णन मैगस्थनीज के विवरण में हमें मिलता है जो कि निर्ग्रन्थ मुनि थे। मैगस्थनीज के अनुसार समाज में जिनका बहुत आदर था उन्हें Hylobioi of Allobioi या अर्हत कहते थे। **Its Hierophants were the prophets among the Egyptians, the Chaldeans amongh the Assyrians, the Druids among the Gauls, The Sarmanaeans who were the Philosphers of the Baktrains**

and the Kelts. The Magi among the Persians and among the Indians the Gymnosophists. (Mc.Crindle's Ancient India)

सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्लीनी के अनुसार बेकस से लगा कर सिकन्दर तक के समय में भारतवर्ष पर १५४ राजाओं ने राज्य किया। इनका राज्य काल ६४५१ वर्ष था। अकबर के समय अबुलफजल ने भी कई राजाओं का उल्लेख कर उनका राज्य काल ४१०९ वर्ष बताया है। प्रौ॰ हीरन अपने Historical researches ग्रन्थ में लिखते है कि डायोनिज से सम्राट चन्द्रगुप्त के समय तक ६०४२ वर्ष व्यतीत हुए। डायोनिज और स्पेटबस भारतीय राजाओं के यूनानी नाम है। कौन्ट जानस्टार्जन के ग्रन्थ 'Theogony of the Hindus' में लिखा है कि चन्द्रगुप्त के समय में उसके राजदरबार में प्रचलित प्राचीन इतिहास जो मैगस्थनीज द्धारा सुनकर इन्डिका में लिखा गया उसके अनुसार चन्द्रगुप्त से ६०४२ वर्ष पूर्व में १५३ राजा हुए। इस प्रकार हमें भारतवर्ष का इतिहास साढ़े आठ हजार वर्ष का प्रमाणित रूप से उपलब्ध होता है। इसकी पुष्टि सर विलियम जोन्स को काश्मीर में 'दविस्तान' नामक ग्रन्थ में लिखे एक 'बेकृरियन' लेख से होती है। जिसमें अनेक राजाओं की नामावली है। जिसमें प्रथम राजा सिकन्दर के आक्रमण से ५६०० वर्ष पूर्व राज्य करता था (भारतीय सभ्यता और उसका विश्वव्यापी प्रभाव पृष्ट 4)। कैप्टन ड्रायस ने १८४१ ई॰ के ऐशियाटिक जर्नल में यह सिद्ध किया है कि ३००० ई॰ पू॰ भारत में अनेक महान राज्य थे जो सभ्यता और संस्कृति में बहुत ही उन्नत थे। यह बहुत ही खेद का विषय है कि पाठ्य पुस्तकों में जो प्रचलित इतिहास मिलता है उसमें आर्य पूर्व इतिहास का वर्णन नहीं है। यह एक महत्वपूर्ण प्रामाणिक तथ्य है कि मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य अर्हत संस्कृति को मानने वाले थे। इसीलिए ब्राह्मणों ने उन्हे निम्न कुल से बताया है।

मैगस्थनीज और टौलमी द्वारा वर्णित पाण्डिया राज्य श्रमण राज्य था। क्यों कि वहाँ पर मातृक प्रथा थी जो कि आर्य पूर्व की प्रचलित प्रथा रही थी।

All the Pandaian regions of Magesthenese and Ptolemy are historically the Krishna regions. The

Krishna were the Pre Aryan, Non Aryan People of Bharat, of the Australoid Erhnic Stock and following the Shramanic Way. (Ancient India as described by Ptolemy).

टोलमी जो मिश्र देश का इतिहासकार था जिसका समय दूसरी शताब्दी है उसने अपने समय तथा उससे पूर्व के भारतीय इतिहास का वर्णन किया है । **The Pre Aryan, the Dravidian and the Brahmani Peoples and Places were clearly recognisable in the age of Ptolemy. टोलमी के अनुसार The Bhartiya people despite three foreign intrusions were still vigorous and powerful people. They had kept there shramanic way of life intact in the whole of Bharata (Ancient India).**

टोलमी और मैगस्थनीज द्धारा वर्णित आदि सदरा, पांडियन राज्य, अहि राज्य श्रमण संस्कृति के केन्द्र थे । मैगस्थनीज के समय तक ब्रह्मआर्य दक्षिण से अपरिचित थे लेकिन टोलिमी के समय में दक्षिण में जाने लगे थे । दक्षिण श्रमण संस्कृति का गढ़ था । और वहाँ पर उनका प्रभाव तब तक स्थापित नहीं हो सकता था जब तक कि वो आर्य पूर्व के महापुरुषों को नहीं अपनाते ।

The Brahamanas could not do without borrowing the Pre Bhahmaryan shramanic heroes Ram and Krishna. They recast them in there own settings. The shramanised rudraism and shaivism was also developed by them. Though the shramanic society materially suffered heavily at the hands of foriegn Brahamaryans, it celebrated its cultural triumphs over the Brahamaryans. (McCrindles)

टोलमी ने चम्पा राज्य का वर्णन किया है । उसने चम्पा को 'जबई' के नाम से अभिहित किया है । जो कम्बोज के पश्चिमी किनारे पर स्थित है । यह एक शक्तिशाली राज्य था । यहाँ के दो राजा अत्यन्त प्रसिद्ध थे । श्रुतवर्मन और उसका पुत्र श्रेष्ठवर्मन । श्रुत की अवधारणा जैन आगम साहित्य से है और श्रेष्ठी जैन व्यापारियों को कहते थे ।

उस समय तक ब्राह्मण पूर्वी भारत में अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर पाये थे और बौद्ध सुदूरपूर्व में नही गये थे । बौद्ध चीन गये थे

पश्चिम तथा उत्तर के मार्ग से । अतः कम्बोदिडा और चम्पा में जो सांस्कृतिक विरासत गयी वो जैन लोगों द्धारा ही गयी । डा० आर० सी० मजुमदार ने भी इसका समर्थन किया है । **It is wrong to suggest that champa was a Hindu kingdom in the 2nd century A.D. (Cultural and colonial expansion). According to Rooney South Vietnam was called champa till 2nd Century A.D.**

यद्यपि अनेक ग्रन्थों में इतिहासकारो ने लिखा है कि प्राचीनकाल से भारतीयों ने सब जगह उपनिवेष बसाये है । **The story of Bhartiya emmigration dates back from the hoary past. We know such emmigrations since 4000 B.C. when the known chapter of the human history opens. The Bhartiya cultural ambassadors went to sumer egypt greece & America.** ये भारतीय कौन थे । ये हिन्दू और बौद्ध नही थे वरन् अर्हत या जिन थे । क्यों कि आर्य पूर्व जो संस्कृति यहाँ आदि काल से थी वो अर्हत परम्परा की थी । बौद्ध धर्म भी ५०० ई० पू० आस्तित्व में आया था । तब तक ब्रह्म आर्यों का कोई भी साम्राज्य यहाँ स्थापित नहीं हो पाया था ।

मलाया देश का नाम भारत के मलय गिरि क्षेत्र से पड़ा । नीलगिरी से कन्या कुमारी तक का क्षेत्र मलयगिरि कहलाता था । इन श्रमण श्रेष्ठियों द्धारा व्यापार के साथ साथ श्रमण संस्कृति का प्रभाव व प्रचार तो होता ही था ये अपने देश का नाम भी वहाँ के देशों और स्थानों को देते थे । They gave the name of there mountains to the whole country–B. C. Law. इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट है कि जैन व्यापारी बर्मा स्याम मलाया चम्पा आदि देशों में व्यापार के लिये जाते थे । उन्होने वहाँ अपने उपनिवेश भी बसाये थे । वहाँ के जगहों की भारतीय स्थानों के नामों की समानता से यह सिद्ध होता कि उनकी संस्कृति का प्राचीन भारतीय श्रमण संस्कृति से अभिन्न सम्बन्ध रहा है । जिसप्रकार भारतीय व्यापारी वहाँ पाते थे उसी प्रकार वहाँ के व्यापारी भी भारत मे व्यापार करने आते थे । जैन साहित्य में 'नायधम्मकहाओं' कथानक में चम्पा का वर्णन है जहाँ से व्यापारी माल लाद कर समुद्र में अन्य

जगहों में व्यापार के लिए जाते थे । ये निश्चित ही भागलपुर स्थित चम्पा नही है वरन वियतनाम की चम्पा है जो mekong river के किनारे और समुद्र से नजदीक है । इसी प्रकार वहाँ के नगरो मे कांपित्य और हस्तिनापुर तथा अयोध्या भी हैं जो अत्यन्त प्राचीन हैं जब कि भारत के ये नगर भौगोलिक रूप से उतने प्राचीन नहीं है । जैन तीर्थंकरो में प्रथम तथा आन्तिम तीन तीर्थंकरों के प्रमाण भारत मे मिलते है जब कि अन्य तीर्थंकरों के प्रमाण मध्यपूर्व एशिया तथा दक्षिण पूर्व एशिया में प्राप्त है सिर्फ जरूरत है इस पर खोज करते रहने की । अंगकोरवाट का मंदिर जैन मन्दिर था । यह मंदिर थाई तथा बर्मी लोगों द्वारा १२वी शताब्दी में ध्वंस कर दिया गया । वास्तव में यहाँ जो मूर्तियाँ पद्मासन में तथा साँपफण से सुशोभित है वो बुद्ध की नहीं हो सकती वरन् भगवान पार्श्वनाथ की हैं । **"According to Harisatya Mahacharya and other Archeologists the famous statues of so called Naag Buddha are actually of Tirthankar Parsvanatha belonged to Naag Dynasty. (Meru temples of Angkor- Jineshwar Das Jain)."**

"The existence of Angkorvat, Angkorthan along with many statues in Ardhapadmasana posture are a sufficient proof that these areas were dominated by sraman culture and traditions. Since these areas were the birth place of many Tirthankaras, people from India used to visit these place as pilgrimage centres (Jineshwar Das Jain)." यह हम पहले ही कह आये हैं कि प्राक्वैदिक युग में दक्षिण श्रमण संस्कृति का प्रभावशाली क्षेत्र था । श्रीलंका में बुद्ध धर्म के पूर्व जैन धर्म स्थापित था इसका प्रमाण प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से प्राप्त होता है ।

कन्या कुमारी को पाणिनी ने अपने अष्टध्यायी (२, १, ७०) में कुमारी श्रमणा के नाम से सम्बोंधित किया है । पाणिनी के समय तक ब्रह्म आर्य दक्षिण से अपरिचित थे तथा बौद्ध भी अशोक से पूर्व दक्षिण में नही गये थे । अतः यह कहा जा सकता है कि यह नाम तथा क्षेत्र जैन संस्कृति से प्रभावित था । **'Cape Kumari was so named**

after the name of the Jain female Ascetic. The concept of Kumari means a celibate woman.'

आर्य पूर्व काल में श्रमणों को जिन्हें ब्रह्मआर्यों ने असभ्य तथा असुर कहा वो आर्यो से ज्यादा सभ्य तथा उन्नत संस्कृति के थे। जब आर्य उनके सम्पर्क में आये उस समय आर्य लुटेरे एवं असभ्य अवस्था में थे। ब्रह्म आर्य भौतिक जीवन के सुखों में विश्वास रखते थे जब कि श्रमण अध्यात्मिक जीवन में विश्वास करते थे।

"The Brahmans believed in the materialistic life while shramans in the spiritual one. The Brahmans Knew no penance, meditation and fortitude."

Dr. Zemmer के अनुसार "Jainism represent the thinking of the non Aryan peoples of India and believed that there is truth in the Jaina idea that there religion goes back to a remote antiquity in question being that of the Pre Aryan so called Dravidian period which has recently been dramatically illuminated by the discovery of a series of great late stone age cities in the Indus valley dating from the third and perhaps even to the forth millennium B. C."

डा० बुद्ध प्रकाश डी० लिट ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय धर्म एवं संस्कृति' में लिखा है, महाभारत में विष्णु के सहस्त्रनामों में श्रेयांस, अनन्त, धर्म, शान्ति और सम्भव आते है और शिव के नामों में ऋषभ, अजित, अनन्त और धर्म मिलते है। विष्णु और शिव दोनों का एक नाम सुब्रत दिया गया है। ये सब नाम तीर्थंकरों के हैं। ऐसा लगता है कि महाभारत के समन्वय पूर्ण वातावरण में तीर्थंकरों को विष्णु और शिव के रूप में सिद्ध कर धार्मिक एकता करने का प्रयत्न किया गया था। इससे तीर्थंकरों की प्राचीन परम्परा सिद्ध होती है।

मैगस्थनीज टोलमी इत्यादि सभी के विवरणों से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मा आर्यो के आने से पूर्व भारत के मूल निवासी श्रमण धर्मानुयायी थे। प्रो. फर्लांग ने अपनी पुस्तक 'SHORT STUDIES IN THE SCIENCE OF COMPARITIVE RELEGION, Pg.243-44

मे स्पष्ट लिखा है– **"There was also existing throughout upper India an ancient and highly organised religion, Philosophical, ethical and severaly ascetical viz Jainsm. Out of which clearly developed the early ascetical features of Brahamanism and Buddhism."** "अति प्राचीन काल से भारत के ऊपरी क्षेत्र मे एक बड़ा सूव्यवस्थित धर्म विद्यमान था। उसका उच्च श्रेणी का तत्व ज्ञान तथा नीति थी एवं अति उग्र तपश्चर्या का समर्थन करने वाला था उसका ही नाम जैन धर्म है तथा इसी से ही आगे चलकर ब्राह्मण और बौद्धधर्म को अध्यात्मवादी स्वरूप स्पष्ट रूप से प्राप्त हुआ।"

किसी भी संस्कृति और धर्म का मूल स्त्रोत एक होता है। जब कि पूर्वाग्रह से युक्त इतिहासकारों ने अपने से पूर्व इतिहासकारों का अनुकरण करते हुए लिखा है कि प्रारम्भ से ही दो संस्कृतियाँ चली आ रही है आर्हत और बार्हत। एक साथ दो संस्कृतियों का जन्म नहीं होता, मूल संस्कृति एक ही होती है। उसी से विच्छिन्न तथा विशृंखल होकर अन्य संस्कृतियों का जन्म होता है। इस बार्हत वैदिक संस्कृति का जन्म अर्हत ऋषभदेव जो आर्हत संस्कृति के संस्थापक थे उनके पौत्र मरिचि तथा उसके शिष्य कपिल द्धारा हुआ। प्राग्वैदिक काल में जो श्रमण संस्कृति थी वह अर्हत के नाम से प्रसिद्ध थी। जैनों के प्रसिद्ध नवकार मंत्र में सर्वप्रथम अर्हतों को ही नमस्कार किया गया है। अर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्धपुराण तथा शिवपुराण आदि ग्रन्थों से भी होती है। इसमें जैन धर्म की उत्पत्ति के विषय में अनेक उपाख्यान भी है। यथार्थ में आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदों में, उपनिषद में महाभारत तथा पुराण साहित्य में कुछ परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप में दिखायी देता है। इसका कारण ब्रह्म आर्यो पर श्रमण संस्कृति का प्रभाव पड़ना था क्यों कि वो उसी से विछिन्न हुए थे। और जिनका प्रभाव हमें उनके साहित्य में मिलता है। यहाँ तक कि वैदिक ग्रन्थ योग वशिष्ट के वैराग्य प्रकरण १५/८ में राम को भी शान्ति प्राप्ति हेतु जिनेन्द्र की आत्मसाधना का अनुकरण करने की भावना प्रकट करते हुए वर्णित किया है।

'नाहं रामो न में वांछा, भावेषु च न में मन, शान्ति मा सितु मिच्छामि, वात्मनीय जिनो यथा ।'

अर्हत शब्द का वर्णन हमें ऋग्वेद में भी मिलता है । जिससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद रचनाकाल के पूर्व भारत में अर्हतो का ही प्रभाव था । प्राच्य विद्याओं के विश्व विख्यात अनुसन्धाता डा० हर्मनयाकोबी ने अपनी किताब के नवें पृष्ठ में स्पष्ट लिखा है कि "पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे इसका कोई भी प्रमाण नहीं है । जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से ही अपने धर्म का उद्भव मानती है ।" वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ऋग्वेद में जिस ऋषभदेव का वर्णन मिलता है वही जैन धर्म के ऋषभनाथ है । ऋषभदेव ब्राह्मण धर्म और श्रमण धर्म के समन्वय बिन्दु के रूप में मान्य है । श्री ऋषभदेव के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों का भी वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है । **"We also learn from the Bhagwat Purana that the Tirthankar Sumati followed the path of Rsabha."– B.R. Kundu. (J.J. 1981 Pg. 67).**

भारतीय संस्कृति के आदि स्रोत को जानने के लिए प्राचीनतम साहित्यिक स्रोत के रूप में वेद तथा प्राचीनतम पुरातात्विक स्रोत के रूप में मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा के अवशेष ही हमारे आधार हैं । संयोग से इन दोनों ही आधारों और साक्ष्यों से श्रमण धारा के अति प्राचीनकाल में भी उपस्थिति होने के प्रमाण मिलते हैं । वैदिक साहित्य के पूर्व मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से प्राप्त वृषभ युक्त ध्यान मुद्रा में योगियों की सीले इस बात का तथ्य प्रमाण है कि ऋग्वेद की रचना काल से भी पहले भारत में श्रमण धारा का आस्तित्व ही नही वरन् वही एक मात्र प्रमुख धारा थी ।

Dr. Thomas Mcevilley of Rice University of LosAngeles and Dr. Katherine Harpar of Loyola Marymount University further strenthen the suggestion that "there existed Pre Aryan Jain tradition in the Indus Valley."

सिन्धु घाटी सभ्यता में कोई भी वैदिक धर्म के अवशेष प्राप्त नहीं हुए है । अतः आर्हत परम्परा ही आदि परम्परा है । **"The religion**

of the Jinas can be traced before the advent of the vedic Aryans to the Pre historic period in India. The first of these Jinas was Rsabha whose bull insignia is found in Indus valley civilization." भगवान ऋषभदेव ने जहाँ कर्म युग की नींव डाली वही धर्म युग की भी आधार शिला रखी थी। वे विश्व के आध्य प्रचारक सिद्ध हुए। वेदों में ऋषभ शब्द भिन्न अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। रुद्र, शिव, मेघ, बैल, साँड तथा अग्नि के रूप में उल्लेख है ये सभी नाम ऋषभदेव के पर्यायवाची है। ऋग्वेद में दो जगह ऋषभदेव को आराध्य के रूप में स्वीकार किया गया है। जैनागमो में ऋषभदेव को इस अवसर्पिणी काल के धर्म का आदि प्रवर्त्तक कहा है तो भागवत् में ऋषभदेव को अवतार मानकर उनका उद्देश्य वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करने वाला बताया है। श्री रामधारी सिंह जी दिनकर ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है– "यह मानना युक्ति युक्त है कि श्रमण संस्था भारत में आर्यो के आगमन के पूर्व विद्यमान थी।" पातंजलि जो ब्रह्म आर्य थे उन्होनें भी लिखा है कि पौराणिक धर्म आगम और निगम पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक प्रधान है और आगम प्रागवैदिक काल से चली आ रही वैदिकेतर परम्परा का वाचक है।

जैन इतिहास के अनुसार मूलवेदो के ३६ उपनिषद् थे। मूल प्राचीन वेद आधुनिक वेदों से भिन्न है। उनकी रचना आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र राजर्षि भरत चक्रवर्ती द्धारा अपने पिता के उपदेश से श्रावकों के लिये की गयी थी। ये वेद नवें तीर्थंकर सुविधिनाथ के समय तक चले उसके बाद जब विछिन्न होने लगे तो उस समय के भाष्यकारों ने अनेक श्रुतियाँ रची जिनमें हिंसक बलि, यज्ञ तथा शक्तिशाली देवताओं इन्द्र वरुण आदि को प्रसन्न करने की स्तुतियाँ की गयी। बाद में वेद व्यास जी ने इनको एकत्रित कर उनके चार भाग कर चार नाम से चार वेद बनाये। वेद में स्थान-स्थान पर वैदिक देवताओं के प्रति की गयी प्रार्थनाओं से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इस संस्कृति के लोग भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए देव शक्तियों पर आश्रित रहने वाले थे। इनके द्वारा यज्ञ में बलि दी पाती थी। इनका जीवन संधर्षमय व असुरक्षा

की भावना से ग्रस्त था। व्यास जी ने ब्रह्म सूत्र की रचना की जिसके तीसरे अध्याय के दूसरे भाग के ३३ वें सूत्र में जैनों की सप्तभंगी का खंडन किया है। जिस समय में जो मत प्रबल होता है उसी का खंडन किया जाता है। अतः यह स्पष्ट होता है कि वेद व्यास जी के समय जैन धर्म प्रभावशाली था। उपनिषद और पुराणों के अध्ययन से यह मालुम पड़ता है कि इसमें वेदों के विपरीत लिखा है। उपनिषद जैन मत के समीप कहे जा सकते है उसमें जैन दर्शन की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। क्यों कि उपनिषद के प्रवक्ता ब्राह्मण नहीं थे, श्रमण धर्म के तीर्थंकरों की तरह क्षत्रिय थे। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार ब्राह्मणों के चार वेद हैं उसी प्रकार मग जाति के भी चार वेद होते थे। विद, विश्वरद, विराद और अंगिरस। ये वेद खरोष्टि लिपि में थे। मगों के इन वेदों का वर्णन पारसी धर्म ग्रंथ अवेस्ता के प्राचीन अंश में भी मिलता है। जरशस्त्र तथा उनके वंशज मग कहलाते थे। मगों का शासन मिस्त्र बेबीलोनिया, तातार, साइबेरिया रूस आदि अनेक देशों में फैला हुआ था। दक्षिण भारत में आज भी जिन वेदों का अध्ययन किया जाता है वे उत्तर भारत के वेदों से भिन्न है। आवश्यक शास्त्र में वर्णन है कि जीव हिंसा युक्त यज्ञ ऋषि याज्ञवलक्य सुलसा तथा अरु आदि द्धारा शुरू किये गये थे। इस सन्दर्भ में एक उपाख्यान भी आता है जो इस प्रकार है। 'रावण जब दिग्विजय करने निकलता है तो रास्ते में नारद दुःखी होकर रावण के पास आते हैं और बतलाते हैं कि राजपुर में मरुत नाम का राजा यज्ञ कर बेचारे निरीह पशुओं की बलि दे रहा है। मैनें उसे समझाया कि असली यज्ञ आत्मा की पवित्रता का है। लेकिन राजा ने नहीं सुना और मुझे मारना चाहा अतः मैं आपके पास आया हूँ। तब शक्तिशाली रावण ने जाकर यज्ञ बन्द कराया। इस उपाख्यान से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में जो कहा गया है कि राक्षस व असुर यज्ञ विध्वंस कर देते थे वास्तव में इसका अर्थ शक्तिशाली अर्हत जैन धर्मी राजाओं से है जो हिंसक यज्ञों का विरोध करते थे, उनको ही असुर और राक्षस तथा दैत्यराज के नाम से संम्बोधित किया जाता था। देव और असुरों के मध्य हुआ संघर्ष भी एक प्रकार से दो संस्कृतियों या जातियों के मध्य था। विद्वानों

का अनुमान है कि असुर राजा प्रायः अहिंसक जैन संस्कृति से सम्बद्ध थे । यह बात और है कि विद्वेष के कारण असुर शब्द को हिंसा का पर्यायवाची बना दिया है । विष्णु पुराण के अनुसार असुर लोग अर्हत धर्म के अनुयायी थे । इनका अहिंसा में पूर्ण विश्वास था यज्ञ और पशुबलि में इनकी पूर्ण अनास्था थी । श्राद्ध और कर्म काण्ड के ये विरोधी थे । (विष्णु पुराण 573/17, 18-18, 26, 28, 29, 30, 49 13/ 170-413.)

महाभारत के शान्तिपर्व में असुर राजा बलि अपने मुख से आत्म साधना का जो वर्णन करते है वह भी जैन धर्म के अनुकूल है । (**दामोदर शास्त्री भारतीय संस्कृति और जैन साधना ।**)

वेदों में वर्णित आश्रम व्यवस्था ऋषभदेव द्धारा कर्मो के आधार पर स्थापित की गयी थी जो बाद में ब्रह्म आर्यो द्धारा जन्मगत आधार पर की गयी । ब्राह्मणों ने वेदों को ईश्वरोक्त बताया है जबकि **ऋग्वेद की संहिता अष्टक तीन, अध्याय दो, वर्ग १२, १३, १४** से यह सिद्ध होता है कि विश्वामित्र ऋषि ने पंजाब में जहाँ व्यास और सिन्धु नदी मिलती है वहाँ पर अगाधपानी देखकर उन्होंनें नदी पार करने के लिये इन तीन ऋचाओं से नदियों की स्तुति की । ऋग्वेद के दसों मंडलो के सृष्टा दस ऋषि हैं । शंकराचार्य के समय से आज तक लगभग १२०० वर्ष पूर्व वेदों में काफी फेर बदल किया गया । कितने ही पुराने श्लोकों को निकालकर नए श्लोक स्थापित किए गए । वेदो के अर्थ करने में शंकर माधवाचार्य और सायनाचार्य ने अपने अपने भाष्य में बहुत अर्थ मन कल्पित भी लिखे है । पाणिनी तथा पांतजलि ने भी भाष्य लिखे हैं परन्तु ये जो नवीन भाष्य रंचे गये इनसे भी शास्त्रों की सत्यता नष्ट हो गयी ।

पाणिनी अष्टाध्यायी व्याकरण से भी पूर्व प्राचीन जैन व्याकरण के साक्ष्य मिलते है । पाणिनी ने अपने रचे व्याकरण में अपने से पूर्व अनेक भाष्यकारों का वर्णन किया है जिनमें शाकटायनाचार्य का नाम भी है । शाकटायनाचार्य के भाष्य के मंगलाचरण से स्पष्ट है कि वो जैन मत के थे । जैनेन्द्र व्याकरण और इन्द्र व्याकरण ये भी पाणिनी से पूर्व के है । पातंजलि ने भी जो अष्टध्यायी के ऊपर भाष्य रचा है वह भी

जैनेन्द्र, इन्द्र, शाकटायनादिव्याकरणानुसार रचा है । जैन तीर्थंकरो की मान्यताओं के विषय में भी जैनेतर विद्वानो द्वारा यह भ्रामक प्रचार कर सन्देह पैदा करने का प्रयत्न किया गया । गुजरात के महान् साहित्यकार श्री चन्द्रशेखर दीवाणजी के अनुसार "जैन कथाओं के विषय में कुछ विद्वानों ने इस प्रकार की मान्यता प्रचलित की कि जैन धर्माचार्यों ने हिन्दू इतिहास और पुराण ग्रन्थों से महापुरूषों के नाम तथा उनके जीवन की प्रमुख घटनाएँ लेकर उन्हें जैन परम्परा के अनुकूल परिवर्तित किया । उनके वैज्ञानिक ग्रन्थ इतिहास की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखते । पर उनके ग्रन्थों के अध्ययन सें मुझे प्रतीत हुआ कि यह मान्यता सत्य से परे है । उन ग्रन्थों के रचनाकारों ने अपने प्राचीन ग्रन्थों से उपलब्ध जानकारी को ही नाम-निर्देश के साथ प्रस्तुत किया है ।

कलकत्ता विश्व विद्यालय के भाषा शास्त्री Dr. Chaturjya ने भी लिखा है– **"Myths and legends of gods and heroes currents among Austric and Dravidians long attending the period of Aryans advent in India (1500 B.C.) appeared to have been rendered in the Aryan Language in late and garbled or improved version according to themselves to Aryan Gods and heroes worlds and it is these myths and legends to Gods, sages which we largely find in puranas."**

"आस्ट्रिक और द्रविड़ों में आर्यों के यहाँ आगमन के पूर्व (ई.पू.१५००) देवताओं और वीरों की दँतकथाएँ प्रचलित थी । ये कथाएँ आर्य भाषा में बहुत समय बाद आयी जिनमें आर्य देवताओं और मान्यताओं के अनुसार सुधार या परिवर्तन हुआ और वे आर्यों के देवों एवं वीरों के रूप में बदल गए । पुराणों की कथाएँ भी इसी प्रकार पैदा हुई । इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तविकता के मूल्यांकन के लिये निरपेक्ष दृष्टि से ब्राह्मण साहित्य का गवेषणापूर्ण अध्ययन करने की आवश्यकता है ।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव केवल भारतीय उपास्य देव ही नहीं भारत के बाहर भी उनका प्रभाव देखा जाता है । विश्व की प्राचीनतम संस्कृति

श्रमण संस्कृति अर्हतों की उपासक थी तथा यह उतनी ही प्राचीन है जितनी आत्म विद्या और आत्म विद्या क्षत्रिय परम्परा रही है। पुराणों के अनुसार क्षत्रियों के पूर्वज ऋषभदेव हैं। ब्राह्मण पुराण २:१४ में पार्थिव श्रेष्ट ऋषभदेव को सब क्षत्रियों का पूर्वज कहा गया है। महाभारत के शान्ति पर्व में भी लिखा है कि क्षात्र धर्म भगवान आदिनाथ से प्रवृत हुआ है शेष धर्म उसके बाद प्रचलित हुए है। प्राचीन भारत की युद्ध पद्यति नैतिक बन्धनों से जकड़ी हुई थी। प्राचीन युद्धों में उच्च चरित्र का प्रदर्शन होता था। इतनी उच्च श्रेणी का क्षत्रिय चरित्र का उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं दीखता इसका एक मात्र कारण श्रमण संस्कृति का प्रभाव है। आर्यो ने यह भारत की प्राचीन श्रमण परम्परा से ही सीखा है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पिता नाभि राजा चौदहकुलकरों में अन्तिम कुलकर थे उनका समय संक्रान्ति काल था। उस समय भोग भूमि थी। नाभि राजा के नाम पर ही इस क्षेत्र का नाम नाभि खंड या अजनाभ वर्ष पड़ा था। भागवत पुराण में स्पष्ट लिखा है कि अजनाभ वर्ष ही आगे चलकर नाभि के पौत्र एवं ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम से भारतवर्ष हुआ।

नाभि और ऋषभदेव का प्रभाव समस्त मध्य पूर्व ऐशिया, यूनान, मिश्र, फिनिशिया में था। फिनिशियों का भारत के साथ प्रागैतिहासिक काल से ही सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्पर्क था। फिनिशियनों में सिर्फ ऋषभदेव ही नही वरन् अन्य तीर्थंकर भी पूज्यनीय थे। इतिहासकार हेरेन ने मिश्र और फिनिशियनों के सम्बन्धों को मानते हुए लिखा है। **"The gods Anat and Reschuf seems to have reached the phoenecians from north Syria at a very early period, So far indeed, it is only certain that they were worshipped by the phoenecians colonists on cyprus–Portraits of these deities are displayed on the monuments of the Egyptians, who has appropriates them during there intercourse with syria. The circumstance that the Egyptians were fond of representing both deities with the town goddess of Kadesh**

on the Orontes point to Reschuf as well as Anat having been received into the phoenicians system of Gods from the pantheon of the northern portion of Syria. From the closing sentence of the treaty which Ramses II concluded with the Kheta (Hittites) it even seems that Anat were worshipped in many towns in the Hittites Kingdom" (Hostory of Phoenicia Pg.270).

डा० रामप्रसाद चंदा के अनुसार भारत के पूर्वी भाग में ऐसे आदिमधर्म का पता चलता है जिसमें प्रतीको के रूप में चैत्यों आदि की– दूसरा पूज्य प्रतीक स्तूप जो अण्डाकार होता था– एक तीसरा प्रतीक वह था ध्वज स्तम्भ जिसके शीर्ष भाग में ऐसे पशुओं की मूर्ति बनाते थे जो समाजों में पूज्य होते थे। आदि धर्म की यह विशेषता भारत में ही नहीं अपितु मिश्र, बेबीलोनिया, असीरिया तथा प्राचीन यूनान में मिलती है।

ईसा पूर्व अनेक शताब्दियों से मिस्त्र श्रमण तपस्वियों का विचरण क्षेत्र रहा है। इन तपस्वियों को थेरापुते कहा जाता था। थेरापुते का अर्थ अपरिग्रही मोनी होता है। यह थेर शब्द वास्तव में स्थविर शब्द से निकला है जिसका अर्थ निर्ग्रन्थ मुनि था। जैन कल्प सूत्र आदि में तथा जिन प्रतिमाओं के लेखों में भी थेर शब्द का प्रयोग मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने भी थेर शब्द का प्रयोग किया है। मिस्त्र में कुछ ऐसे पत्थर प्राप्त हुए हैं जिनपर धर्म चक्र और त्रिरत्न बने हुए हैं। उन पर कोई लेख नहीं है। मेमफिस में भी कुछ भारतीय मूर्तियां मिली है। टोलमैक कब्र के पत्थर पर भी धर्म चक्र और त्रिरत्न के चिन्ह है। **(Journal of Asiatic research society 1899 pg. 875).**

यद्यपि लेखकों ने इसे बौद्ध चिन्ह बताया है लेकिन ये उनकी जैन धर्म के प्रति अज्ञानता का परिचायक है। जैन तीर्थंकरों के लांछन वृषभ, बैल, सूअर, गैंडा, बकरा आदि को मिश्र निवासी पवित्र तथा पूज्य मानते थे ऐसा वर्णन वहाँ की साहित्यिक परम्परा में मिलता है।

"More over what acts of Religious worship they performed toward Apis in Memphis, Mnevis in

Heliopolus, the goat in Mendes, The crocodile in the lake of Moeris--when any of them dye they are as much concerned as at the death of their own children and lay out in burrying of them as much as all their goods are worth and far more".

'The Egyptians not only paid during honours to the bull apis but to considering him the living image and representative of Osiris (Reshuf).'

मिस्त्र मे जब भयानक अकाल पड़ा था तब भी वहाँ के लोग शाकाहारी ही रहे थे। **Diodorus के अनुसार–"For it is reported that at a time when there was a famine in Egypt many were...but not a man was accused to have in the least tasted of any of these secred creatures. इस सन्दर्भ में प्रो. ए. चक्रबर्ती ने यह विवरण दिया है–**

'Gymnosophists used already Megasthenes applies very apply to Nirgranthas travellers must travelled to Egypt preaching Ahimsa. They must have influence these people because they considered abolition from meat eating and drinking wine as important ethical aspect of their relegion. (Encyclopedia Britainica vol.25 Edn proved.)'

इतिहासकार हेरेन का मानना था कि मिश्र के लोग भारतीय मूल के है। यही एक महत्वपूर्ण कारण था भारत और मिश्र की प्राचीन धर्म और संस्कृति में समानता का। **The skull of the Egyptians and those of Indian races of antiquity as preserved in the tombs of the respective countries bear a close resemblace to one another.** रायबहादुर राम प्रसाद चन्दा (जैन विद्या) ने मिस्त्र से प्राप्त मूर्तियों और सिन्धु घाटी से प्राप्त मूर्तियों की तुलना करते हुऐ लिखा है। "लैट एफ. डी. पी. १५९ में खुदी हुई आकृति की अवस्था इण्डस की मोंहरो पर खाडे हुए देवताओं जैसी है। तत्कालीन इजिप्शियन शिल्पों में प्रकट प्राचीन राजवंशों में (III, IV.) दोनो तरफ लटकते

हाथों वाली मूर्तियाँ थी । ये इजिप्ट और ग्रीक मूर्तियाँ उसी प्रकार के हावभाव बतलाती हैं । फिर भी इण्डस मुहरों पर की खडी आकृतियों में विशेषता के रूप में जो त्याग भावना दिखायी देती है उसका इनमें सम्पूर्ण अभाव है ।''

मिस्त्र से प्राप्त काँसे की कपि की मूर्ति का सादृश्य चौथे तीर्थंकर अभिनन्दन स्वामी के लांछन से है । इतिहासकारों ने इसकी तुलना सारनाथ के प्रतीकों से कर इसे बौद्ध धर्म से जोड़ा है । लेकिन सारनाथ का स्तूप जैन धर्म का द्योतक है । क्यों कि इसमें बनें त्रिरत्न और सिंह की मूर्ति इस बात को प्रमाणित करते हैं । जैन जातक कथाओं में श्रेष्टियों और व्यापारियों द्धारा समुद्री रास्तों से मिस्त्र में जाने का वर्णन मिलता है । भारत और मिस्त्र का सम्बन्ध प्राग ऐतिहासिक काल से विद्धान लोग मानते है । अत: यह कहने में जरा भी संकोच नहीं है कि मिस्त्र की संस्कृति श्रमण संस्कृति का प्रतीक थी तथा श्रमण संस्कृति के तीर्थंकरों की उपासना का केन्द्र थी । **Anat and Reshpu were extensively worshippen in the eastern delta and in the whole of Egypt.**

विश्व की अति प्राचीन संस्कृतियों में सुमेरियन संस्कृति उल्लेखनीय है । प्राग ऐतिहासिक युग में सिन्धु सभ्यता एक ऐसी सभ्यता की कड़ी के रूप में थी जिसका एक छोर सुमेर में था । सिन्धु घाटी की सभ्यता जो श्रमण संस्कृति की ही थी उसका प्रभाव भी बेबीलोन की संस्कृति पर था । **A Royal Cemetry of Ur shows Precious stone metal which may have been brought their by the traders of Indus valley civilisation. All these evidence clearly indicate wide maritime contact of the Indus Valley civilisation with Sumerians. It will be interesting to mention here the fortified citadels at Mohenjodaro and Harrappa which have been compared with the Sumerian Zigurats by K.N.Shastry (New light on the Indus Valley) with these may be remembered the kayotsarga form in the art of statuary of**

the Indus Valley (P.C. Dasgupta). प्राचीनकाल से यह क्षेत्र तीन भागों में विभक्त था । उत्तरी विभाग की राजधानी असुर थी । जिसे आज असीरिया के नाम से पहचाना जाता है । यहाँ के राजा असुर राजा कहलाते थे । बाणासुर, समरासुर, मायासुर आदि यहाँ के राजाओं के वर्णन पुराणों में भी मिलते हैं । वैदिक आर्य जब भारत में आये तो यहाँ के लोगों को जो श्रमण धर्मावलम्बी थे उनको भी उन्होने असुर कहा । **पार्टिजर ने 'Ancient India Historical tradition' (Pg.271)** में लिखा है– **"Jarasandh the King of Magadh–is estimated as an Assur and the Buddhist and Jains are treated as Asuraj and Detyas."** इससे यहीं निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ कि श्रमण संस्कृति और असुर संस्कृति में निश्चय ही समानता थी । सुमेर नाम भी श्रमण संस्कृति का परिचायक है । यह शब्द सोनगिर से निकला है । **'Later Songir is called Sumer and gave its name to whole of Southern Babylonia.' (History of Mesopotamia Pg.323).**

नाभि राजा और ऋषभदेव समस्त जम्बू द्धीप के अधिपति थे ऐसा जैन तथा जैनेतर शास्त्रों में वर्णन है । मध्य पूर्व ऐशिया जम्बू द्धीप का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र था । सुमेरियन सभ्यता इस क्षेत्र का हृदय स्थल कही जा सकती है । यहाँ नाभि राजा और ऋषभदेव का प्रभाव ही नही वरन् अन्य तीर्थंकरो के भी प्रमाण उपलब्ध है । बेबीलोन के ईश्वर मानव थे जिनका जन्म और मृत्यु सामान्य मानव के रूप में हुआ था। जो श्रमण संस्कृति के तीर्थंकरों से साम्य रखता है । **The Babylonian Gods are very human. They are born, live, fight and even die like the people of the earth.**

नाभि और ऋषभदेव की स्तुति में प्रार्थनायें भी कही जाती थी । तथा उनके सम्मान में जलूस भी निकाले जाते थे । **'The German excavating society has recently brought to light the old procession street between babylon and Borshippa over which the image of god Nabu used to be Carried on his visit to Marduk at Babylon (History of Mesopotamia).'**

सीरिया का नगर रषाफा तथा बेबीलोन का नगर इसबेकजुर ऋषभ शब्द का अपभ्रंश है। रेशेभ चल्डियन देवता नाबू तथा मूरी (मरुदेवी) के पुत्र माने गये है। असीरियन Godess Mylitha का वर्णन हमें मिलता है जो १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ से साम्य रखता है। जैनियों के एक वर्ग की मान्यता है कि मल्लिनाथ को स्त्री रूप में कैवल्य की प्राप्ति हुई थी। सुमतिनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, अनन्तनाथ आदि तीर्थंकर असुर थे। मिस्त्र, सीरिया, बेबीलोन आदि में इनकी उपासना प्रचलित थी तथा ये क्षेत्र वृषभ संस्कृति का केन्द्र था।

Times of India (1935) में प्रकाशित एक लेख में एक ताम्रपत्र की खोज का विवरण आया था। जिसे डा॰ प्राणनाथ ने पढ़कर बताया कि बेबीलोन के राजा नेबूचन्द्रनेझार ने रेवत गिरि पर नेमिनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया था। लेकिन इस पर आज तक विद्धानों ने कोई ध्यान नहीं दिया।

The King Nebuchad Nazzar belonged to the Sa (mer) tribe has come to the place (Dwarika) of the Yadu Raja. He has built a temple and paid homage and made the great perpetual in favour of Lord Nemi the peramount deity of Mt Ravata. (Times of India, 1935).

जैन साहित्य में अनार्य भूमि के आर्द्र कुमार का वर्णन आता है जिसने श्रेणिक पुत्र अभय कुमार की प्रेरणा से प्रतिबोध पाकर भगवान महावीर से दीक्षा ली थी। प्रश्न उठता है कि यह आर्द्र देश कहाँ पर है ? मैसोपोटामिया के तीन भाग थे असीरिया या असुर, किश और दक्षिणी भाग जिसकी राजधानी ऐर्ध थी। बाद में ये तीनों क्षेत्र मिलकर बेबीलोन बन गये। ऐर्ध नगर एक समृद्धशाली प्रमुख बन्दरगाह था। जहाँ से भारत के साथ सीधा जलमार्ग का सम्बन्ध था। कालान्तर में नदी के कटाव के कारण बन्दरगाह भर गया और इसका महत्व कम होता गया। ६०० ई॰ पूर्व बेबीलोन का सम्राट नेबूचन्द्र नेजर था जो भगवान महावीर का समकालीन था। यह बहुत ही शक्तिशाली था इसने अनेक देशों को जीता था। **मैगस्थनीज ने इसके विषय में**

लिखा है–Nebuchad Nazzer King of Babylonia surpassed Herakles in courage and the greatness of his achievements.

इसका बना Hanging garden विश्व प्रसिद्ध है । उसके द्धारा निर्मित महल अद्वितीय था जहाँ सिकन्दर ने भी निवास किया था । उस समय यह राज्य ऐर्ध्य के नाम से जाना जाता था बेबीलोन के नाम से नही । क्यों भारत के बाहर उस समय नेबूचन्द्र नेजर से शक्तिशाली अन्य किसी का राज्य नही था अतः मगधादिपति श्रेणिक के पुत्र अभय कुमार ने भेट स्वरूप ऐर्ध राजकुमार को जिन प्रतिमा भेजी थी जिससे प्रतिबोध पाकर आर्द्र राजकुमार भारत आया । पुत्र की खोज में नेबुचन्द्रनेजर स्वयं भारत सौराष्ट्र के रास्ते से आया और उसने गिरिनार की यात्रा की । इस सन्दर्भ में आर्द्र देश और आर्द्र राजकुमार के विषय में जैन साहित्यिक स्त्रोतों द्धारा जो प्रमाण उपलब्ध है उन पर खोज की जानी चाहिए । **Records shows that Mahavira had travelled extensively in India as far south to Krishna river Valley and had influenced with the religious Gospel not only various Kingdoms within India but also the persian King Karusa and Prince Adraka-- Dr. Bhuvendra Kumar.**

सायरस के शिलालेखों से यह प्रमाण मिलता है कि बेबीलोन मे मर्दुक की पूजा तथा बलि की प्रथा नेबूचन्द्रनेजर ने बन्द करायी थी । प्रारम्भ में यह मर्दुक का भक्त था परन्तु बाद में जैन धर्म स्वीकार कर लिया । इसने नौ फूट ऊँची व नौ फुट चौड़ी स्वर्ण प्रतिमा बनवायी तथा उसके समीप सिंह तथा सर्प बिम्ब बनवाया था । आज इस मन्दिर के टूटे फूटे टुकड़े बर्लिन और Constantipole के म्यूजियमों में सुरक्षित है । इसका जो भाग अभी भी वहाँ मौजूद है उस पर वृषभ, गैंड़ा, सुअर, साँप, सिंह, बाज इत्यादि खुदे हुये दिखायी देते हैं । जो जैन तीर्थंकरों के प्रतीक चिन्ह या लांछन है । ऋषभदेव का वृषभ, गैंड़ा श्रेयांस नाथ का, सुअर विमलनाथ का, बाज अनन्त नाथ का, साँप पार्श्वनाथ का और सिंह भगवान महावीर का प्रतीक है । तीर्थंकरों के

यह लांछन या प्रतीक पहले दीवारो, स्तम्भो आदि पर बनाये जाते थे। कालान्तर मे जब इन मूर्तियों की अन्यमतानुसार पूजा होने लगी तब यह प्रतीक मूर्तियों के नीचे चिह्नित किये जाने लगे। बेबीलोन का बाज मन्दिर चौदहवें तीर्थंकर अनन्त नाथ का होना चाहिये क्यों कि बाज मन्दिर की मूर्तियाँ अन्य किसी धर्म से सम्बन्धित नहीं हो सकती। मार्शल के अनुसार तक्षशिला का स्तूप जिसको इतिहासकार 'दो सिरोंवाला बाज मन्दिर' **'Shrine of the double Headed Eagle'** कहते है, बेबीलोन के प्राचीन बाज प्रतीक से मेल खाता है।

"If the comparison drawn by Marshall between the edifice and those occurring on Jain Ayag patt from Mathura has any real significance. The eagle here may be recognised as either a formalised congnisance of the fourteen Tirthankar Ananthnatha...." (P.C. Dasgupta).

इतिहासकार ईसा पूर्व ३००० वर्षो से भारत और बेबीलोन के सम्बन्धो को मानते हैं। **Indian Merchants establishes Colonies in ur, Kish and Aprachiya...(S.R. Rao. Dawn and Devolution of Indus Valley civilisation Pg.15.)** मैगस्थनीज, एरियन, टोलमी आदि के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारत निर्ग्रन्थ धर्म का केन्द्र स्थल था। अतः दक्षिण भारत और बेबीलोन का सम्बन्ध दोनों संस्कृतियों की समानता का प्रतीक कहा जा सकता है। **The excavation of Ur dating back 7th and 6th century B.C. revealed Amazonite beeds which could only come from Nilgiri Hills of south India. It appears that the relations between Babylone and the coast of India very intimate from the earliest time.** मिश्र की प्राचीन हीरोलिपिक सुमेरियन फिनिशियन तथा यूनानी लिपि की भारतीय ब्राह्मी लिपि से समानता है। डा० बुलर आदि अनेक लेखको की भ्रम मूलक धारणाओं को खंडित कर रायबहादुर पं० गौरीशंकर ओझा ने ब्राह्मी लिपि को सबसे प्राचीन सिद्ध किया है। जैन साहित्य में ब्राह्मी लिपि के विषय में कहा गया है

कि श्री ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से जो १८ लिपियाँ सिखायी थीं उनमें प्रथम ब्राह्मी लिपि थी ।

पोप के पुस्तकालय के एक लातीनी आलेख से जिसका हाल ही में अनुवाद हुआ है, जिससे पता चलता है कि दिगम्बर भारतीय दार्शनिक निर्ग्रन्थों की एक बहुत बड़ी संख्या ईथोपिया के वनों में रहती थी और अनेक यूनानी विद्धान वही जाकर उनके दर्शन करते थे और उनसे शिक्षा लेते थे । जिम्बाम्बे के मन्दिरों के अवशेषों के विषय में भी यह कहा जाता है कि ये प्राचीनकाल में भारतीयों द्धारा निर्मित किये गये थे । **"There are some who say that it was Indians and not the Arabs, Phoenicians or Africans who built these stone walls and temples. The ruin of which remain one of the mystries of Zimbabwe"–G.M. Sarah–'The people of South Africa' (Pg. 223).**

ये भारतीय कौन थे ? ये सर्व विदित है कि मूर्ति कला के उत्कृष्ट नमूने जैनियों द्धारा निर्मित किये गये । श्री अष्टापद कैलाश (हाल की खोजों से वहाँ मन्दिर होने के प्रमाण मिले है और जिनका वर्णन सिर्फ जैन साहित्य में ही मिलता है ।) श्री गिरिनार, आबू, राणकपुर, सम्मेद शिखर पर निर्मित मन्दिर जैन शिल्पकला के प्रतीक माने जाते है तथा इस बात के द्योतक है कि मूर्तिकला का प्रारम्भ सबसे पूर्व जैनियों द्वारा हुआ था । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इसे स्वीकार किया है ।

भारत में अब तक प्राप्त सिक्कों में लीडिया देश के सोने और चाँदी से मिश्रित श्वेत धातु के सिक्के सबसे प्राचीन है । पंजाब के सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर लीडिया के राजा क्रीसस का सोने का एक सिक्का मिला । इस सिक्के में एक ओर वृषभ और एक सिंह का मुँह बना है दूसरी ओर एक छोटा और एक बड़ा पंचमार्क चिन्ह अंकित है । उक्त सिक्के में अंकित वृषभ और सिंह का सम्बन्ध भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर से है । इसके अतिरिक्त वहाँ से प्राप्त ताँबे के सिक्को में से एक में अश्व का अंकन है जो भगवान संभवनाथ का प्रतीक है, इसरे में हाथी का अंकन है तो तीर्थंकर अजीतनाथ का चिन्ह

है । **रैप्सन के notes on Indian coins and seals** में यूनानी राजाओं के सिक्कों का जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट होता है कि यूनान के अनेक राजाओं पर जैन धर्म का प्रभाव था । **(Journal of Royal Asiatic Society 1900-5).**

यह सर्वविदित है कि जैनियो के २४ तीर्थंकरो के प्रतीकों की सांस्कृतिक धार्मिक परम्परा के महत्व के दर्शन सुदूरवर्ती देशों मे मिलते है । ये लांछन की परम्परा प्रागऐतिहासिक काल से चली आ रही है । विश्व की सभी प्राचीन सभ्यताओं में इन प्रतीकों का अत्याधिक महत्व रहा है जो Aegean Isle से अफ्रीका के रेगिस्तान तक फैली थी ।

J.H.Q. vol.11, pg.293 में वर्णन है कि **A Naked Sraman Acharya went to Greece as his smadhi spot was found marked at Athens.** यह मैगस्थनीज द्धारा वर्णित जैन आचार्य के यूनान जाने के विवरण से मिलता है ।

बुखारा मे कल्याण मस्जिद है जिसे कल्याण मुनि के शिष्यों ने इस्लाम के पूर्व निर्मित किया था जिसे बाद में मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया । यूनान के तत्व ज्ञान पर जैन तत्व ज्ञान का स्पष्ट प्रभाव देखा गया है महान यूनानी दार्शनिक पीरों ने जैन श्रमणों के पास रहकर तत्व ज्ञान सीखा । फिर यूनान लौटकर ऐलिस नगर में एक नयी यूनानी दर्शन पद्यति की स्थापना की जिसके अनुसार वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति अन्तकरण की शुद्धि द्धारा ही सम्भव है । भारत से लौटने के बाद पीरो दिगम्बर रहता था । उसका जीवन इतना सरल और संयमी था कि यूनानी उसे बड़ी भक्ति और श्रद्धा से देखते थे । यूनान में ६०० ई० पू० की प्राप्त दिगम्बर मूर्ति जिसे यूनानी कुरोस या अपोलो देवता की मूर्ति कहते है जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्ति के समान है । पाइथागोरस आदि की धार्मिक मान्यतायें एवं आत्मा सम्बन्धी धारणायें यूनानी धर्म पर जैन दर्शन की अमिट छाप है । मथुरा अत्यन्त प्राचीन जैन तीर्थ स्थल था वहाँ से प्राप्त प्राचीन स्तूप तथा मूर्तियाँ इस बात के साक्षी हैं। वहाँ के देव निर्मित स्तूप के विषयमें -

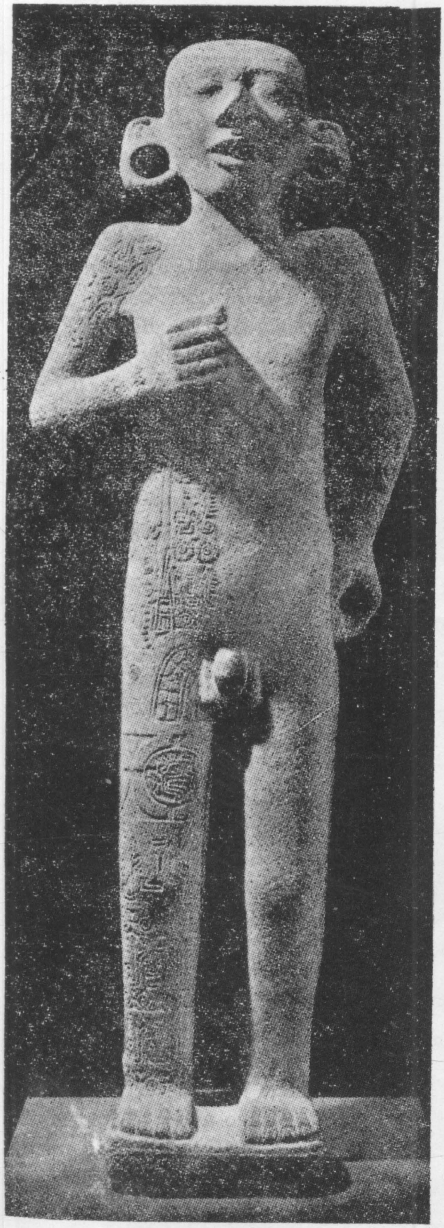

The so-called 'Young-Huaste-can' from san Luis Potosi, Mexico, appears as a saint in divine communion. (5)

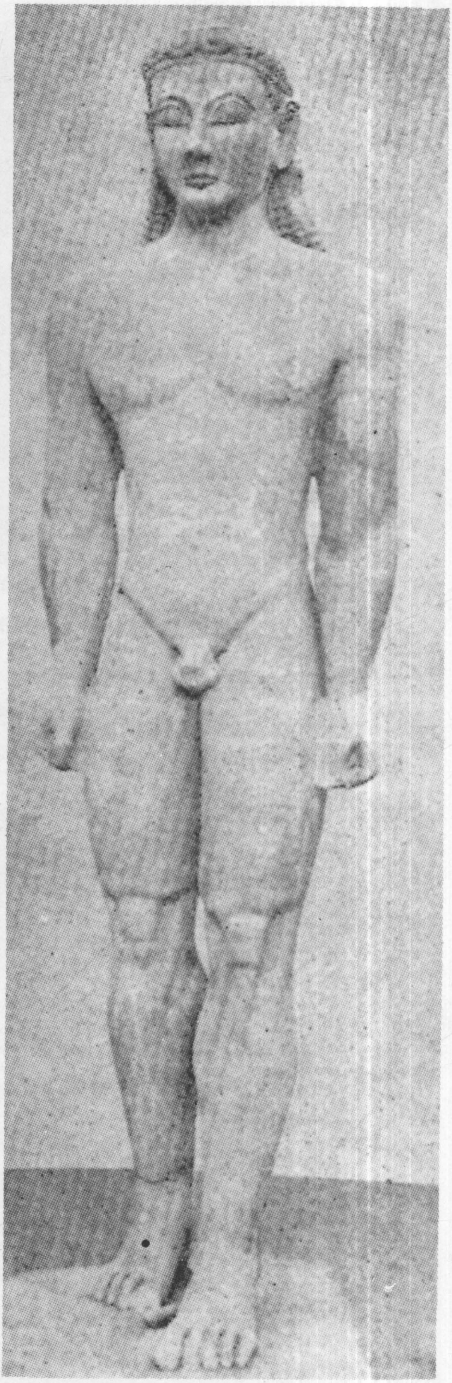

Apollo (600 B.C.)
Greece (6)

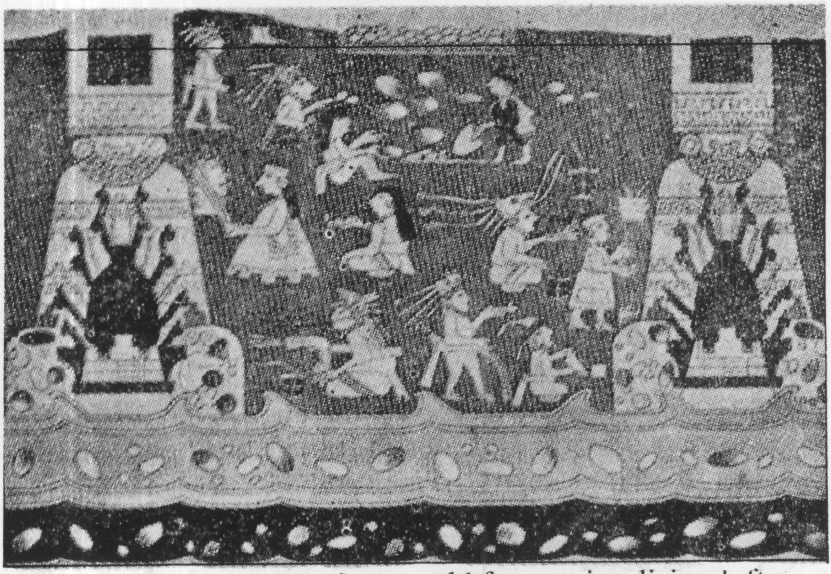

More than a thousand years old fresco visualising lofty structures with components of the stupa. (7)

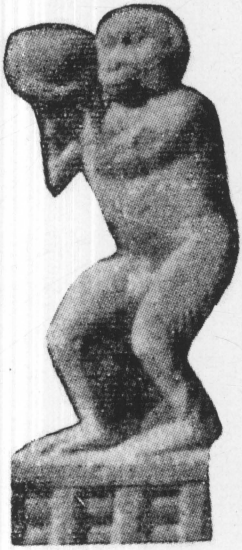

Stupa 1, North Gateway, Right Pillar, Sanchi c. 1st Cen. B.C. (8)

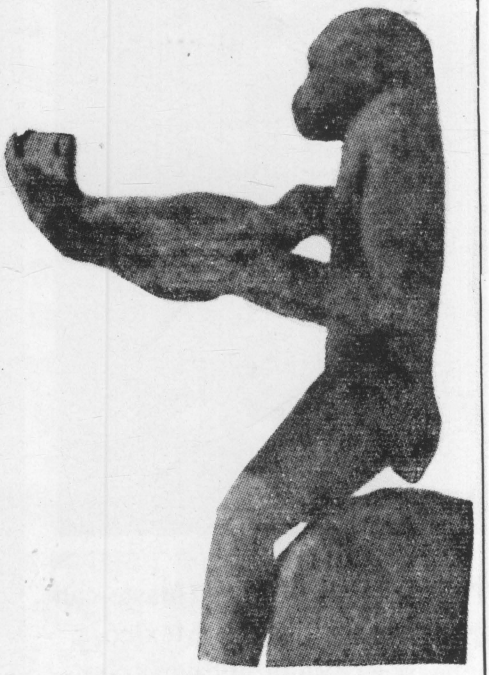

Bronze, Saqqara, Egypt (9)

Both the sculptures visualise a comparable devotion and a respectful poise

Museum report में लिखा हैं "The Stupa was so ancient that at the time when the inscription was inscribed its original had been forgoon on the evidence of its character the date of the inscription may be reffered with certainity to the Indo scythian era and is equivalent to A.D. 150. The stupa must therefore have been built several centuries before the begining of the christian era. प्राचीन धार्मिक केन्द्र के तथा 'ईश्वरीय स्थल' के रूप में मथुरा से प्राचीन ग्रीकवासी भी परिचित थे। To the faithful the Devanirmit stupa or stupas of Mathura evidently appeared resplendent with Purity. In this connection it may be remembered that the greeks in antiquity knew the city as Madoura ton theon Mathura of Gods- (J.J. October 1981, pg.53).

जैन श्रमणों के प्रभाव से यहूदियों में २०० ई० पू० एक एस्सीनी नामक सम्प्रदाय की स्थापना हुई जो अहिंसा के सिद्धान्त पर चलते थे। ईसामसीह के समय इनकी संख्या अत्याधिक थी। यूनानी लेखक स्ट्रेब्रो के अनुसार अफलातून जैसे दार्शनिक और विज्ञानवेता उनके दर्शन करने और उनसे उपदेश लेने के लिये आते थे। इतिहास लेखक युसुफ के अनुसार यूनान के पाइथागोरस और स्टोइक दार्शनिकों ने अपने अनेक सिद्धान्त इन्हीं से सीखे थे। इसाई धर्म में मठों और महन्तों की प्रथा भी इनसे ही ली गयी है। यहदियों के धार्मिक ग्रन्थों में ऋषभदेव का वर्णन मिलता है। Some old testamen passages indicate...Among the pre Israelitish inhabitants of the Nageb were the son of Anakor Anakite and that these Anakites were identical with or closely related to the Rephain or Rephaites (रिषभ) (History of Israel pg.7). ईसा मसीह के विषय में भी यह कहा जाता हैं कि उन्होनें भारत की यात्रा की थी। वे यहाँ निग्रन्थ मुनियों के विषय मे सुनकर ही भारत आये थे और यहाँ उनके पास रहकर उनसे ज्ञान प्राप्त किया था। श्री जिनेश्वर दास जैन ने लिखा है– "It has been reported by a

few historians that Lord Jesus visited desert of India...Lord christ must have heard about the popularity and miracles of naked Jain Monks in greece. Hence he decided to come to Rajasthan to meet such naked sadhus and know more about them and their way of living and their religious philosophy. Lord christ must have been profoundly impressed by their strict austerities and then he decided to remain naked when he reached back to his country. Probably his naked way of life must have been vehemently apposed by the Roman Kings and rulers. Otherwise there could be no other reason for one of the greatest saints of that period to meet an opposition leading to such end results. This view is supported by many photograph of his crucification that his whole body is shown naked, a cloth is put arround his waist," यह भी कहा जाता है कि ईसा बच गये थे और भारत में काश्मीर मे आये जहाँ उनकी समाधि का उल्लेख मिलता है।

भारतवर्ष से अनेक जैन यात्री व्यापार करने टर्की जाते थे मसीहसूली से जिन्दा। उनके हस्तलिखित विवरण भारत के अनेक शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित है। ठाकुर बुलाकी दास ने शाहजहाँ के समय १६८३ ई० में अपनी तुर्किस्तान की यात्रा का विवरण लिखा है जो दिल्ली के एक जैन हस्तलिखित शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है। यह राजस्थानी भाषा में है इसके अनुसार इस्तम्बोल नगर से ५७० कोस दूरी पर तारम्बोल नामक एक बड़ा नगर है। अनेक मुनि समुदाय उस समय वहाँ विद्यमान थे। श्री युत्त एन सी मेहता ने स्टडीज इन इंडियन पेन्टिंग नामक पुस्तक में एक जर्मन पुस्तक के आधार पर लिखा है कि तुर्किस्तान में जो प्राचीन चित्र मिलते है उनमें जैन धर्म सम्बन्धी अनेक घटनायें भी चित्रित है। **(C.J. Shah- Jainism in Northern India 1932, Pg.199)**

टोकियो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर नाकामुरा को चीनी भाषा में एक जैन सूत्र मिला है जो इस बात का प्रमाण है कि शताब्दियों पहले चीन में जैन धर्म प्रचलित था। सर विलियम जोन्स के अनूसार चीनी

लोग अपनी उत्पत्ति भारत से बतलाते है । प्रोफेसर लेकेनपेरि चीन शब्द की उत्पत्ति भारत से हुई बतलाते है । Acient chinese tradition नामक ग्रन्थ में यह वर्णन है कि ई॰ पू॰ ३००० में भारतीय व्यापारियों का एक दल चीन में गया था तथा उसने वहाँ अपने उपनिवेष बसाये थे । लामचीदास जैन जो गोलालारे जाति के थे उन्होंने भूटान होते हुये चीन आदि देशों के जैन तीर्थों की यात्रा की थी । उन्होने यह यात्रा १८ वर्ष में पूरी की थी । अपने विवरणों में वहाँ के जैन मन्दिरों का विस्तृत वर्णन किया है । उनके अनुसार पेकिंग शहर में तुनावारे जाति के जैनियों के ३०० मन्दिर थे । इन मन्दिरों में कार्योत्सर्ग मुद्रा एवं पद्यासन मुद्रा में मूर्तियाँ थी । वहाँ के जैनियों के पास जो आगम ग्रन्थ हैं वह चीन की लिपि में है । तातार देश में पातके और घघेरवाल जाति के जैनी है । यहाँ की प्रतिमाएँ समवसरण में देशना की सूचक है । तिब्बत देश में वाधानारे तथा भावरे और सोहना जाति के जैन निवास करते है । यहाँ च्यवन कल्यानक की पूजा करते है । तिब्बत मे १०वीं शताब्दी के पश्चात् ही बौद्धधर्म गया था । प्राप्त प्राचीन चित्र तथा पेटिंग्स दिगम्बर मुनियों की हैं परन्तु जिन्हे भ्रम वश बौद्धों की मान लिया गया है । जब कि बौद्धों मे नग्न मूर्तियाँ नहीं होती । **"The four monastries... their special marks...these paintings represent Buddhist saints often nude and in a standing position." (History of Western Tibet– A. H. Frenche).** कर्नल जेम्स टाड के अनुसार **Neminatha the 22nd of the Jinas and whose indluence, Tod believed has extended into China and Scandinavia where he was worshipped under the names of Fo and Odin respectively.**

भूमध्य देशों में भारतीयों का सबसे पुराना प्राप्त अवशेष एक श्रमणी की मूर्ति है जिसके बाये कन्धे पर चादर लटक रही है । ईसा पूर्व १२०० की एक काँसे की ऋषभ की मूर्ति अलासिया साइप्रस में मिली है । ऋषभदेव की मूर्तियाँ मलाशियामे, इसबुकपुर में और हिटटी देवताओं में प्रमुख देवताओं के रूप में मिली है । ऋषभदेव व कुछ अन्य तीर्थंकरों

की मूर्तिया दूसरे देशों में भी मिलती है। फ्रांस के पैरिस म्यूजियम में एक सुन्दर कलाकृति की श्री ऋषभदेव की प्रतिमा रखी हुई है ये प्रतिमा मथुरा की कंकाली टीले की प्राचीन मूर्तियों के समान है।

मध्य ऐशिया के यास्कर नगर से २० मील दक्षिण में कुगियर नामक स्थान में कागज में लिखे हुये सबसे पुराने भारतीय लिपि के चार ग्रन्थ मिले है। जिसका समय डा० हार्नल ने ई० पू० चौथी शताब्दी निश्चित किया है। डा० स्टेन को खोतान प्रदेश में एक पुराना ग्रन्थ मिला है जिसका नाम संयुक्तागम है। जैसा कि आगम नाम से विदित होता कि यह निश्चित ही जैन ग्रन्थ है। रूस के अजरबेजान (जो आज एक पृथक देश बन चुका है) की राजधानी बाकू में एक मंदिर (खाम ओग्न्या) आज भी संरक्षित स्मारक के रूप में है। इस मंदिर के अन्दर विभिन्न सोलह गुफानुमा कक्षों में मूर्तियाँ है। इन मूर्तियों को देखने से ही इनकी सजीवता का अनुमान होता है। इनमे से कुछ मूर्तियाँ तपस्वियों की उपवास की मुद्रा मे हैं। यह निश्चित रूप से भगवान आदिनाथ शिव अर्थात् ऋषभदेव का मंदिर है। **(अजरबेजान का शिव मंदिर डा. काशीराम उपाध्याय)**।

मंगोलिया में सैकडो बिहार है जिनमें गाण्डड्रः प्रमुख बिहारों में है। इस बिहार का द्धार शंख, चक्र और मीन के चित्रों से सजा है। तथा दो सिंह बने है। मुख्य द्धार पर धर्म चक्र और मृग है। इससे स्पष्ट है कि यह बिहार पहले जैन केन्द्र था। शंख, चक्र, मीन, सिंह, मृग आदि जैन प्रतीक है बौद्ध नहीं। जब भारत में ही इतिहासकारों ने ऐसी भूले की हैं तो विदेशों में यह एक सामान्य बात है। इसी मन्दिर का तीसरा भवन चन्दन जोवो भवनं है जिसका अर्थ चन्दन के प्रभु है। इसके छत्र पर धर्म चक्र बना है। यहाँ के पुस्तकालय में स्थित पटल का वस्त्र नवरत्नों से कढ़ा है। जिसके मध्य में स्वास्तिक और चारों ओर अष्टमांगलिक चिन्ह है जो केवल जैन परम्परा में प्राप्त होते हैं।

नाभि राजा तथा ऋषभदेव की मान्यता के प्रमाण इस्लाम में भी मिलते है। मुसलमानों ने उन्हे ईश्वर का दूत रसूल नबी पैगाम्बर माना है जो नाभि का ही रूपान्तर है। हजरत मुहम्मद से पूर्व इस पूरे क्षेत्र

में जैन तीर्थंकरों की उपासना प्रचलित थी । अति प्राचीनकाल से मुसलमानों का पवित्र धार्मिक स्थल मक्का अत्यन्त प्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्र माना जाता था जहाँ पूरे विश्व से लोग दर्शनार्थ आते थे । **However no temple had the fame of the kaaba whose, Pre eminence was universally admitted म्यूर के शब्दों में A very high antiquity must be assigned to the main features of the religion of Meeca...Diodorus, Secules, writing about half a century before our era, says of Arabia washed by the Red sea, there is in this country a temple greatly revered by the Arabs, These words must refer to the Holy house of Mecca, for we know of no-other which ever commanded such universal homage... Tradition represents the Kabah a from time immemorial the scene of pilgrimage from all quarters of Arabia, from yeman and Hadhrmaut, From the shores of persian Gulf, the desert of syria and the distant environs of Hira and Mesopotamian men nearly flocked to Mecca. So extensive homage must have had its begining in an extremely remote age. मक्का के प्राचीन नाम से भी उसके प्राचीन उपासना स्थल होने में कोई सन्देह नही रहता Most interesting is the Ancient name of Macca-'Macorabi'. The name is derived from 'Caraba' which in Balylonian means worship, bless, Pray (History of Arab).** इस्लाम धर्म का आरम्भ ७वीं शताब्दी में हजरत मोहम्मद साहब के द्धारा हुआ । काबा जो जैन धर्म का महान तीर्थ माना जाता था । वहाँ पर तीर्थंकरों की ३६० मूर्तियाँ स्थापित थी । ऐसी मान्यता है कि यहाँ पर जो ऋषभदेव की मूर्ति थी वह सीरिया से लायी गयी थी । इन ३६० मूर्तियों को मोहम्मद साहब ने खंड़ित कर चकनाचूर कर दिया था । **When order had been restored in the city Mohammed himself at the temple. He went round the Kaaba seven times on his camel each time touching the secred stone with his staff, and then broke**

in pieces the idols 360 in mumber. Which were place round the sanctuary. All this he had the doors of the temple thrown open cleans the house of the lord from all images. (Historians History of Arabs).

काबा के महत्व का कुरान में भी वर्णन है । इसे ईश्वर का प्रथम घर कहा गया है । ब्राह्मण पुराणो एवं जैन साहित्य के अनुसार नाभि राजा तथा आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के समय अयोध्या नगरी का निर्माण किया गया था । आज जितने भी इतिहासिक प्रमाण काबा की प्राचीनता के मिलते है इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि मक्का ही प्राचीनतम अयोध्या नगरियों में से है । **The Kaba is stated in the Quran to be the first house (of divine worship) appointed by men. In one place it is called At...Baital...Aliq (Ancient House)...All Available historical evidence uphold this claim. (The Relegion of Islam by Maulana Muhammad Ali pg.383).** इस्लाम में मक्का की तीर्थ यात्रा जिसे हज यात्रा कहते है । ये परम्परा प्राचीन आदि परम्परा की देन है । प्रायः यह देखा जाता है कि प्रत्येक धर्म अपने पूर्व चले आने वाले धर्म या परम्पराओं से कुछ अवश्य लेता है इस परिपेक्ष्य में हम यह कर सकते है कि यह हज यात्रा की परम्परा जैनियों की छरी पालित तीर्थ यात्रा की परम्परा से ली गयी है । **This pilgrimage was borrowed from the ancient relegion with all the ceremonies which accompany it, although they have been modified in some respects and received touch of Islamism.**

जैनियों की तीर्थ यात्रा परम्परा आदि कालीन है । जिसके प्रमाण जैन साहित्य में हमें भरपूर मिलते है । आज भी यह परम्परा उसी रूप में देखने को मिलती है । यह जैन धर्म की महत्वपूर्ण विशेषता है तथा उसकी प्राचीनता का प्रतीक भी । इस यात्रा में जैन श्रावको द्धारा जिन व्रतों का पालन किया जाता है और जिन नियमों का अनुसरण किया जाता है । ठीक वहीं नियमों तथा व्रतों का पालन हज यात्रा में भी

किया जाता है । हज यात्री वैसे ही वस्त्र पहनते हैं जैसे कि जैन साधु या मुनि पहनते हैं कुरान के ४६वें अध्याय में जिन सम्प्रदाय का वर्णन आता है जिसमें मोहम्मद साहब के उनके मिलने का वर्णन है । मक्का के इतिहास मे लिखा है कि नग्न साधु वर्ष में एक या दोबार अवश्य मक्का की यात्रा करने आते थे ।

चार्ल्स बरटिलस ने अपनी किताब 'Mysteries from forgtton world' में उत्तरी अमेरिका की खोज यात्रा के विषय में लिखा है जिसमें चीनी यात्रियों के मैक्सिकों जाने का वर्णन है । तथा उन्होने अपने लेखों में वहाँ की चित्रकला में कमल और स्वस्तिक आदि प्रतीकों का वर्णन किया है । मैक्सिको से प्राप्त कायोत्सर्ग दिगम्बर मूर्ति, स्तूप तथा माया और एजटेक सभ्यता के अवशेषों में जो मूर्तियाँ तथा प्रतीक चिन्ह मिले है उसकी सादृश्यता आश्चर्य जनक रूप से जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों तथा उनके प्रतीको से है । इस सन्दर्भ मे विशेष खोज की जानी चाहिए ।

इस प्रकार हम देखते है कि जैन धर्म सिर्फ भारत में ही नहीं पूरे विश्व में फैला हुआ था । इसका प्रभाव विश्व की सभी संस्कृतियों पर किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान देखा जा सकता है सिर्फ आवश्यकता है वहाँ के प्राचीन इतिहास के गवेषणा की । आज जो खोजे हो रही हैं और जो इतिहासकार इनको कर रहे है दुर्भाग्यवश वो जैन धर्म से अपरिचित है । अधिकांश विदेशी इतिहासकार अज्ञानवश जैन धर्म को बौद्ध धर्म के रूप में मान लेते है जिसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं । ये विदेशी इतिहासकार तो अनजान थे लेकिन भारतीय इतिहासकार पूर्वाग्रही थे इन्होने भारतीय होते हुये भी भारत की मूल संस्कृति को अनदेखा किया । आर्य जाति की श्रेष्ठता स्थापित करने में विलुप्त हो रही प्राचीनतम सांस्कृतिक धरोहरों को फिर से गहन शोध और अध्ययन द्वारा सही रूप में सामने लाने की आवश्यकता है । आज भी जो सबसे प्राचीन लिखित शिलालेखीय प्रमाण भारत में मिलता है। वह जैनियों का है अजमेर में वड़ली के पास ।

जैन धर्म न केवल भारत का वरन् विश्व का प्राचीनतम अध्यात्मिक

धर्म है इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में काफी प्रमाण दिये जा चुके है । वास्तव में जैन धर्म विश्व की आदि सभ्यता का स्रोत है और भारत की सभ्यता और संस्कृति का एक ऐसा अंग है जिसे निकाल देने से हमारी संस्कृति का रूप एकांगी और विकृत रह जायेगा । यह निर्विवाद है कि यह धर्म ना तो विश्व के किसी धर्म के विरोध में प्रारम्भ हुआ ना ही किसी का रूपान्तर है यह आर्हत संस्कृति अध्यात्म प्रधान है तथा विश्व को भारत की देन है । जो प्राग्वैदिक काल से विश्व ने अपनायी तथा विश्व के सब देशों में इसका प्रचार हुआ यहाँ तक कि वेदो स्मृतियों पुराणों और उपनिषदों में भी इस संस्कृति को सर्वोच्च स्थान मिला । ७वी शताब्दी तक आर्हत संस्कृति सारे विश्व में फैली रही ।

कवि सूरदास जी के शब्दों में

बहुरि रिसभ बड़े जब भये नाभि राज देवनको गये ।
रिसभ राज परजा सुख पायो जस ताको सब जग मे छायो ॥

सूरसागर

श्री अष्टापद जी-एक संभावना

श्री भरत हंसराज शाह

परमात्मा की अनुकम्पा से मुझे तीन बार श्री कैलास मानसरोवर जाने का अवसर मिला। प्रथम बार जून-जुलाई १९९६ ई॰ में द्वितीय बार जुलाई-अगस्त १९९५ ई॰ में और अन्तिम बार जून-जुलाई १९९८ ई॰ में। इन यात्राओं के दौरान मैने ५४ कि॰ मी॰ की नियमित परिक्रमा तीन दिन में पूरी की। अन्दर का घेरा जो कि ४० कि॰ मी॰ है उसकी परिक्रमा दो दिन में पूरी की और नन्दी की परिक्रमा २१ कि॰ मी॰ पूर्ण करने में एक दिन लगा। श्री कैलास मानसरोवर यात्रा सब तीर्थ यात्राओं से दुर्गम यात्रा मानी जाती है।

कैलास पर्वत और पवित्र मानसरोवर तिब्बत के नागरी क्षेत्र में विद्यमान है। कैलास मानसरोवर की यात्रा उत्तर प्रदेश पर्यटन विभाग के कुंमायू विकास निगम के संरक्षण में भारत सरकार के विदेश मंत्रालय द्वारा आयोजित की जाती है। यात्रियों का चुनाव कुछ इस प्रकार होता है कि हर दल में करीब ३० से ३५ यात्रीगण रहते हैं जो भारतीय संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों धर्म, शिक्षा, भाषा, व्यवसाय और उम्र आदि का प्रतिनिधित्व करते है। इस यात्रा के लिये शारीरिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होना आवश्यक है। हर वर्ष १२ दलों में करीब ३६० से ४०० यात्रियों को चीन का वीसा उपलब्ध कराया जाता है। इस यात्रा को पूर्ण करने में ३१ दिन लगते हैं। ये यात्रा दिल्ली से प्रारम्भ होकर दिल्ली में वापिस समाप्त होती है। करीब १४४० कि॰ मी॰ का रास्ता परिवहन द्वारा तथा उसके बाद ३३० कि॰ मी॰ का रास्ता चढ़ाई का है। जिसमें कैलास और पवित्र मानसरोवर हैं। सबसे ऊँचाई पर डोलमा पास है जो १८७०० फुट पर है। पैदल यात्रा में घोड़े और बैल आवश्यक हैं। ईश्वर की कृपा से मैने अपनी यात्रा पैदल ही पूरी की।

मेरी प्रथम तीर्थ यात्रा में जो कि मेरे लिये बहुत ही रोमांचकारी थी मुझे अष्टापद नामक जगह की जानकारी मिली जो जैनियों के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव की निर्वाण भूमि है। जैन साहित्य में यह वर्णन है कि चक्रवर्ती भरत ऋषभदेव के पुत्र थे उन्होने सभी २४ तीर्थंकरो के विशाल मंदिरो का निर्माण अष्टापद पर किया था। बहुत सी पुस्तकों में कैलाश पर्वत तथा पवित्रझील मानसरोवर का वर्णन हिन्दु, जैन तथा बौद्धों के महत्वपूर्ण धार्मिक स्थल के रूप में मिलता है। जैन धर्म भारत का महत्वपूर्ण आदि धर्म है जिसके अनुयायी विदेशों में भी रहते है। ज्ञान, दर्शन, चरित्र, निर्माण, तपस्या तथा सबसे ऊपर अहिंसा इस धर्म के प्रमुख स्तम्भ है।

जैन धर्मानुयायी २४ तीर्थंकरो की पूजा करते है। इस चौबीसी के आदिनाथ ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर है और वर्धमान महावीर अन्तिम तीर्थंकर है। ऐसा विश्वास है कि पूर्व तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् ही परवर्ती तीर्थंकर आते है २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर का निर्वाण १५ अक्टूबर ५२७ ई॰ पू॰ में हुआ (आज से २५२५ वर्ष पूर्व)। भगवान महावीर ने संसार के सभी विषयों पर अपना विचार व्यक्त किया। इन्द्र के द्वारा भगवान महावीर के समवसरण की रचना इस प्रकार की गयी जिससे भगवान का मुख देशना देते समय चारों दिशाओं में प्रतिबिम्बित हो। समवसरण में सभी देवी-देवता, मनुष्य, जानवर, पशु-पक्षी देशना सुनने आते थे। और ऐसा विश्वास किया जाता है कि सबको अपनी भाषा में प्रभु की देशना सुनाई पड़ती थी। भगवान के प्रवचनों को आगम वाणी के रूप में जाना जाता है। जिसे उनके अनुयायियों–गणधरों द्वारा श्रुतबद्ध एवं संकलित किया गया। इन हस्त लिखित आगम ग्रन्थों का आज बहुत महत्व है। विश्व भर के भाषा विदों द्वारा इनका गहन अध्ययन किया जा रहा है। इन ग्रन्थों में विज्ञान और गणित के जो दृष्टिकोण दशार्ये गये हैं वह चकित करने वाले हैं।

समय की धारा के साथ साथ उनका यह दर्शन विभिन्न उपदेशकों और मुनियों द्वारा समाज में प्रचारित किया जाता रहा है। इन श्रेष्ट मुनियों में आचार्य हेमचन्द्राचार्य जी का प्रमुख स्थान है। करीब नौ सो

पचास साल पहले वह सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल राजा के शासन काल में हुये थे। उनके द्वारा रचित त्रिशष्टि शलाकापुरूष चरित्र जैन दर्शन की अनुपम कृति है। इसमें ६३ महान विभूतियों का वर्णन है। जिनमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वसुदेव, नौ प्रतिवासुदेव तथा नौ वलभद्र शामिल है। ये सारे महान व्यक्तित्व जैन तथा हिन्दू दोनों धर्मों में मान्य है।

	तीर्थंकर	जन्म स्थल	निर्वाण स्थल
१.	आदिनाथ	अयोध्या	अष्टापद
२.	अजीतनाथ	अयोध्या	सम्मेद शिखरजी
३.	सम्भवनाथ	श्रावस्ती	सम्मेद शिखरजी
४.	अभिनन्दन स्वामी	विनीतापुरी अयोध्या	,,
५.	सुमतिनाथ	विनीतापुरी अयोध्या	,,
६.	पद्मप्रभ	कौसम्बी	,,
७.	सुपार्श्वनाथ	वाराणसी	,,
८.	चन्द्रप्रभ	चन्द्रनम चन्द्रपुरी	,,
९.	सुविधिनाथ	काकन्दी	,,
१०.	शीलतनाथ	भद्दिलपुर	,,
११.	श्रेयांसनाथ	सिंहपुर	,,
१२.	बासपूज्य	चम्पापुरी	चम्पापुरी
१३.	विमलनाथ	काम्पिल	सम्मेद शिखरजी
१४.	अनन्तनाथ	अयोध्या	,,
१५.	धर्मनाथ	रत्नपुर	,,
१६.	शान्तिनाथ	हस्तिनापुर गाजपुर	,,
१७.	कुथुनाथ	,,	,,
१८.	अरनाथ	,,	,,
१९.	मल्लिनाथ	मिथिला	,,
२०.	मुनिसुव्रत	राजगृह	,,
२१.	नमिनाथ	मिथिला	,,
२२.	नेमिनाथ	शौरीपुर	गिरनार
२३.	पार्श्वनाथ	वाराणसी	सम्मेद शिखरजी
२४.	महावीर स्वामी	क्षत्रिकुण्ड	पावापुरी

जैन समाज इन सभी ऊपर लिखित स्थलों को पूजनीय मानता है। समानतया यह मान्यता है कि अष्टापद मानव के अधिकार क्षेत्र से बाहर है । जब कि अन्य सभी तीर्थं स्थलों पर तीर्थ यात्री जाते है ।

कैलाश तथा मानसरोवर की प्रथम यात्रा से लौटने के पश्चात् मैने अष्टापद के विषय में विस्तृत विवरण का संकलन करना प्रारम्भ किया। इस कार्य में मुझे कई विद्धानों तथा मुनियों से मार्ग दर्शन मिला जिसका विवरण यहाँ मैं दे रहा हूँ ।

१. कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य रचित 'त्रिशष्टी शलाका पुरूष चरित्र' के 'प्रथम तीर्थंकर के निर्वाण' के अध्ययन में कैलास पर्वत को अष्टापद माना गया है ।

२. श्री दीपविजय जी के विविध पूजा संग्रह (गुजराती) नामक पुस्तक के पृष्ट ५१४ से ५३६ में अष्टापद पूजा के सन्दर्भ में कैलास पर्वत का उल्लेख है ।

३. आचार्य धर्म घोष सूरि जी द्वारा रचित 'विविध तीर्थं कल्प' के अष्टापद महाकल्प १८ और अष्टापद गिरि कल्प ४९ में कैलाश पर्वत तथा मानसरोवर का विवरण है ।

४. मुनि श्री जयन्त विजय जी द्वारा रचित 'पूर्व भारत की जैन तीर्थ भूमि' (गुजराती) में कैलाश को अष्टापद वर्णित किया गया है ।

५. श्री हीरालाल दुगड़ की पुस्तक 'मध्य ऐशिया और पंजाब' में जैन धर्म की प्राचीनता ओर लोकमत में कैलाश पर्वत को अष्टापद के नाम से माना गया है । (पृष्ट-४६)

६. इस विषय पर हमें प्रतिक्रमण सूत्र प्रबोधितिका, जगचिन्तामणि चैत्यवन्दन सूत्र के ११-४ पेज २८२ से २८ (गुजराती) में भी उल्लेख मिलता है ।

७. स्वामी पणवानन्दजी द्वारा लिखे गये कैलाश मानसरोवर पुस्तक में कैलाश में आदिनाथ ऋषभदेव का निर्वाण होना बताया गया है । (अध्याय ३ पृष्ट २१९)

८. Sir John Snelling ने अपनी पुस्तक The Sacred Mountain में कैलाश पर्वत की तुलना एक विशाल मन्दिर से की है । उसने

कैलाश पर्वत की फोटो की साम्यता हिन्दू मन्दिर के ब्राह्म परिदृश्य से दिखायी है ।

९. सरकार द्वारा यात्रियों को दिये गये गाइड बुक कैलाश मानसरोवर (पृष्ट-१३) में अष्टापद का वर्णन मिलता है ।

१०. गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा निकाले गये डा॰ देवी प्रसाद मिश्र द्वारा 'जैन पुराणो की संस्कृति का अध्ययन' के भौगोलिक दशा नामक अध्याय में कैलाश पर्वत को अष्टापद के नाम से कहा गया है । डा॰ एस. एम. अली के वाही (पेज ५६) में कहा गया है कि कैलाश हिमालय के दक्षिण दिशा में स्थित है। अष्टापद कैलाश की भौगोलिक स्थिति इसी के अनुरूप है ।

१२. प्रतापदित्य पाल द्वारा लिखित Jain Art from India में लेखक ने जैनियों के तीर्थ स्थानो का वर्णन किया है । उससे भी कैलाश को अष्टापद कहा है जो हिमालय में स्थित है । और जैनियो का पवित्र तीर्थ है । अन्य तीर्थ सम्मेद शिखर, शत्रुंजय, सिद्धाचल और गिरनार जी का भी पेज ६५ में वर्णन किया है ।

सन् १९९५ से १९९६ में मुझे आचार्य श्री विजयजनक चन्द्र सूरिजी तथा आचार्य श्री धर्म धुरन्दर सूरि जी के द्वारा प्रेरणा तथा मार्ग दर्शन मिला । सन् १९९७ ई॰ में राष्ट्रीय सन्त आचार्य पद्म सागर सूरि जी से मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ । वे मेरी खोजों से सन्तुष्ट तथा प्रसन्न हुऐ और मुझे इससे आगे कार्य करने के लिये आशीर्वाद दिया ।

मेरी अन्तिम दो यात्राओं के दौरान मैंने हर सम्भव कुछ नया खोजने की कोशिश की । उस विशेष जगह जहाँ की फोटो मैने ली उसका परिणाम आगे अध्ययन के लिये बहुत ही लाभप्रद रहा ।

कैलाश पर्वत से दक्षिण दिशा में देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानों पहाड़ को तराश कर मन्दिर बनाया गया है । जिसके शिखर पर सिंह की मूर्ति आसीन दिखायी पड़ती है और बीच में खड़ी मूर्तियाँ दिखायी देती है । (सिंहनिषिधा पर्वत) एक मूर्ति के हाथ में सितार की तरह वाद्य यन्त्र लिया हुआ है । कैलाश के इस पर्वत के आसपास के पर्वतो के शिखर प्रायः एक समान है । उनके शिखर सामने से चतुष्कोणिय

है । शिखर के बीच में मूर्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है । आसपास के पर्वत एक समान तथा गोपुरम की तरह प्रतीत होते है । पर्वत में एक भरोखा दिखायी पड़ता है । उसी श्रृंखला में एक पर्वत पर sphinxe की तरह विशाल मूर्ति सी दिखायी पड़ती है । नदी के पार के सामने Cube की तरह के बड़े बड़े पत्थर भी उस स्थान में पड़े हैं । एक पर्वत पर स्तम्भ की शक्ल के पत्थर भी दिखायी पड़ते हैं । चबूतरे की तरह खण्डहर भी दिखता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो अतीत में वहाँ विशाल पैमाने पर मानवीय कार्य किया गया है । सिर्फ जैन दर्शन में ही यह विवरण मिलता है कि अष्टापद पर बड़े बड़े मन्दिर चैत्य तथा स्तूपो का निर्माण किया गया था ।

यह यहाँ कहना आवश्यक समझता हूँ कि वर्तमान जैन आचार्य एवं मुनि विशेष ज्ञानी है । लेकिन इस स्थान पर (कैलाश) जाना उनके लिये दुष्कर है क्यों कि वहाँ उनके लिये गोचरी की सुविधा नहीं है । जैन मुनि किसी भी वाहन का प्रयोग नहीं करते हैं । जबकि कैलाश विश्व की सबसे कम आबादी वाला क्षेत्र है वहाँ मुनियों के लिये भोजन पानी की व्यवस्था असम्भव है । मै जैन समाज के नेतृत्व से यह अनुरोध करता हूँ कि वो इस महत्वपूर्ण पवित्र तीर्थ स्थान पर अपना ध्यान केन्द्रित करे । जैन मुनियों को कैलाश की यात्रा की व्यवस्था करावे जिससे हमें अष्टापद की सही जानकारी मिले । तिब्बत के एक मार्गदर्शक गाइड स्वर्गीय दोरजी ने मुझे बताया कि तिब्बती धर्म में यह वर्णन है कि भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी (२० वें तीर्थंकर) ने इस क्षेत्र की यात्रा की थी ।

यहाँ पर कुछ और प्रमाणिक तथ्य इस सिद्धान्त की पुष्टि में दे रहा हूँ ।

१. कैलाश पर्वत आंशिक रूप से बर्फ से ढका है और एकदम खड़ी पहाड़ी है जिस पर चढ़ना अत्यन्त कठिन है । जैन दर्शन में अष्टापद का विवरण भी इसी प्रकार का है । जो इससे साम्य रखता है ।

२. कैलाश पर्वत के दक्षिण में जो पर्वत है वो नन्दी कहलाता है नन्दी ऋषभदेव का लांछन है ।

३. कैलाश के पास ही एक दूसरा बर्फ से ढका ऊँचा शिखर है जो गुरल मनधत के नाम से परिचित है मनधत सगर चक्रवर्ती के पूर्वज थे। सगर चक्रवर्ती का नाम अष्टापद के वर्णन में आता है।

४. कैलाश पर्वत का दर्शन मानसरोवर से भी होता है। मानसरोवर का वर्णन जैन ग्रन्थों में मिलता है।

५. कैलाश पर्वत और गुरल मनधत के बीच एक तालाब है जिसे राक्षस या रावन ताल कहते हैं। जैन दर्शन में रावण को ऋषभदेव का अनन्य भक्त बताया गया है।

६. यह पूरा क्षेत्र खनिज प्रदार्थो और धातुओं से भरपूर है जिन्हें निकालना प्रतिबन्धित है। खनिज प्रदार्थो की बहुतायत भरपूरता के कारण इस पूरे क्षेत्र में एक प्रकार का कंपन होता हैं जो सिर्फ अनुभव किया जा सकता है। उसे शब्दों में व्यक्त नही किया जा सकता। यह क्षेत्र, यहाँ के झरने, पर्वत, बादल और आसपास सब कुछ नैंसर्गिक दैविक सौंदर्य से भरपूर है इसीलिये यह ध्यान के लिये सबसे उपयुक्त क्षेत्र माना गया है।

समानताएँ : महादेव हिन्दूधर्म–ऋषभदेव जैन धर्म
वाहन महादेव : नन्दी
लांछन ऋषभदेव : बैल
स्थल महादेव : कैलाश पर्वत
निर्वाण स्थल ऋषभदेव : अष्टापद
महादेव की पूजा का दिन : शिवरात्री बदी तेरस
ऋषभदेव की निर्वाण तिथि : बदी तेरस

यह समानताएँ भी अष्टापद ही कैलाश है इसी धारणा की पुष्टि करती हैं।

यद्यपि मैं जैन हूँ परन्तु अपने धर्म के विषय में मेरा ज्ञान नगण्य है। जब भी मैं अपने धर्म और उससे सम्बन्धित तीर्थ मूर्तियों के विषय में सोचता हूँ तो यह प्रश्न मन में आता है कि हम गुजरात के पालीताना क्षेत्र के सिद्धाचल तीर्थ को शाश्वत तीर्थ मानते है। बिहार के मधुबन में सम्मेद शिखर को २० तीर्थंकरो की निर्वाण भूमि मानते है। दिल्ली

से १२५ कि॰ मी॰ दूर हस्तिनापुर जहाँ प्रत्येक जैन वर्षीतप तथा पारना करने का इच्छुक रहता है क्यों कि वहाँ पर भगवान ऋषभदेव ने वर्षीतप के पूर्ण होने पर पारना इक्षुरस से अपने पौत्र राजा श्री श्रेयांस कुमार द्वारा किया था। इसके अलावा हमारे और भी बहुत से तीर्थ स्थल हैं जो तीर्थंकरो से सम्बन्धित है और जिनका वर्णन धार्मिक पुस्तको में आता है। यद्यपि इन सभी ऊपर वर्णित स्थनों का इतिहास उतना ही पुराना है जितनी वर्तमान सभ्यता।

तब क्या कैलाश पर्वत ही अष्टापद है ? मार्गदर्शन के लिये मैं मुनियों और विद्वानों से विनती करता हूँ। मैं क्षमा चाहता हूँ उन पाठको से जो मेरे इन विचारों से असहमत हैं।

Nandi Parvat
Top : Image of sitting lion
Centre : Images of vertical Sculptures

Snow Covered Mt. Kailas (Ashtapad)
Right - Mt. Nandi

जैन धर्म की प्राचीनता

स्वः मुनि महेन्द्र कुमार जी 'प्रथम'

वैदिक वाङ्मय में

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत जैन परम्परा में श्लाध्यपुरुष व मानवीय संस्कृति के आदि सूत्रधार के रूप में तो माने ही गये हैं; वैदिक परम्परा में भी स्वयं ब्रह्मा ने ऋषभदेव के रूप में आठवां अवतार ग्रहण किया था। ऋषभ-पुत्र भरत वहाँ भी अपने सौ भाइयों में ज्येष्ठ, शासन-सूत्र के संचालन में परम निपुण तथा निवृत्तिपरायण माने गये हैं। दोनों ही परम्पराओं में दोनों ही श्लाध्यपुरुषों के जीवनकी अधिकांश सदृशता गवेषकों के लिए बहुत कुछ नवीन तथ्यों की उद्भावक है। प्रस्तुत प्रकरण में वेद व पुराणों के आधार पर उनका जीवन तथा उस परम्परा में उनके प्रति अभिव्यक्त अनिर्वचनीयता का संक्षिप्त समुल्लेख किया जा रहा है।

वेदों में अर्हत्[१] तथा अर्हन्त[२] शब्द का प्रयोग-बाहुल्य उस परम्परा की जैन धर्म के प्रति विशेष भावना तो व्यक्त करता ही है; साथ ही ऋषभदेव, सुपार्श्वनाथ[३], अरिष्टनेमि[४], महावीर[५] आदि की स्तुति की गई है तथा उन्हें अनिर्वचनीय पुरुष मानकर उनके उपदेशों पर चलने की प्रेरणा भी दी गई है।

ऋग्वेद व अथर्ववेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमें ऋषभदेव की स्तुति अहिंसक, आत्म-साधकों में प्रथम, अवधूत चर्या के प्रणेता तथा मर्त्यों में सर्वप्रथम अमरत्व अथवा महादेवत्व पाने वाले महापुरूष के रूप में की गई है। एक स्थान पर उन्हें ज्ञान का आगार तथा दुःखों व शत्रुओं का विध्वंसक बताते हुए कहा गया है :

असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिभा अस्य शुरुधः सन्तिपूर्वीः।
दिवो न पाता विदथस्यधीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवोदधाथे॥

–ऋग्वेद, ५-३८

जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्त्रोत है और जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ महान् हैं। उनका शासन वरद है। उनके शासन में ऋषि-परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और शुद्ध) आत्माएँ अपने ही आत्म-गुणों में चमकती हैं; अतः वे ही राजा हैं, वे पूर्ण ज्ञान के आगार हैं और आत्म-पतन नहीं होने देते।

ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में उपदेश और वाणी की पूजनीयता तथा शक्ति सम्पन्नता के साथ उन्हें मनुष्यों और देवों में पूर्वयावा माना गया है :

मखस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियभिं वाचमृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीमामास मानुषीणां विशां देवी नामुत पूर्वयावा॥

–ऋग्वेद, २।३४।२

हे आत्म-द्रष्टा प्रभो! परम सुख पाने के लिए मैं तेरी शरण में आता हूँ, क्योंकि तेरा उपदेश और वाणी पूज्य और शक्तिशाली है। उनको मैं अब धारण करता हूँ। हे प्रभो! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले पूर्वयावा (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक हो)।

कुछ मन्त्रों में उनका नामोंल्लेख नहीं हुआ है, पर उनकी आकृति को विशेष लक्ष्य करते हुए उनकी गरिमा व्यक्त की गई है :

त्रिणी राजना विदथे पुरूणि परिविश्वानिभूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्वते गन्धर्वा अपि वायुकेशान्॥

–ऋग्वेद, २।३८।६

दोनो ही राजा अपने त्रिरत्न ज्ञान में सभाओं के हित में चमकते हैं। वह सर्वथा निज ज्ञान में जागरूक, व्रतों के पालक हैं एवं वायुकेश गंधर्वो से वेष्टित रहते हैं। वे गन्धर्व (गणधर) उनकी शिक्षाओं को अवधारण करते हैं। हमें उनके दर्शन प्राप्त हों।

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धान्त था कि आत्मा में ही परमात्व का अधिष्ठान है; उसे प्राप्त करने का उपक्रम करो। इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए वेदों में उनका नामोल्लेख करते हुए कहा गया है :

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीती, महादेवो मर्त्यानाविवेश ।

– ऋग्वेद, ४।५८।३

मन, वचन, काय; तीनों योगों से बद्ध (संयत) वृषभ (ऋषभदेव) ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मर्त्यों में आवास करता है ।

उन्होंने अपनी साधना व तपस्या से मनुष्य-शरीर में रहते हुए, उसे प्रमाणित भी कर दिखाया था, ऐसा उल्लेख भी वेदों में है ।

तन्मर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे ।

– ऋग्वेद, ३१।१७

ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे, जिन्होंने सबसे पहले मर्त्यदशा में देवत्व की प्राप्ति की थी ।

ऋषभदेव प्रेम के राजा के रूप में विख्यात थे । उन्होंने जिस शासन की व्यवस्था की थी, उसमें मनुष्य व पशु सभी समान थे । पशु भी मारे नहीं जाते थे ।

नास्य पशुन् समानान् हिनास्ति ।

– अथर्ववेद

सब प्राणियों के प्रति इस मैत्री भावना के कारण ही वे देवत्व के रूप में पूजे जाते थे ।

ऋषभं मा समासानां सपत्नानां विषासहितम् ।
हन्तारं शत्रुणां कृषि विराजं गोपितं गवाम् ॥

– ऋग्वेद, अ० ८ म० ८ सू० २४

मुद्गल ऋषि पर ऋषभदेव की वाणी के विलक्षण प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा गया है :

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी ।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥

– ऋग्वेद, १०।१०२।६

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे : उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप

जो मुद्गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियाँ) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

इसीलिए उन्हें आह्वान करने की प्रेरणा दी गई है :

अहोमुचं वृषभ यज्ञियानां विराजंतं प्रथममध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विना हुँवे श्रिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तभोजः॥

– अथर्ववेद, कां० १९।४२।४

समस्त पापों से मुक्त, अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव को मैं आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

ऋग्वेद में उन्हें स्तुति-योग्य बताते हुए कहा गया है :

अनिर्वाणं ऋषभं मन्द्रजिह्वं, वृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्के।

– मं० १ सूत्र १९० मंत्र १

मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति-योग्य ऋषभ को पूजा-साधक मन्त्रों द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते।

प्राग्नये वाचमीरय

– ऋग्वेद, मं० १० सू० १८७

तेजस्वी ऋषभ के लिए स्तुति प्रेरित करो।

यजुर्वेद, अ० ३१ मन्त्र ८ की एक स्तुति में कहा गया है :

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्ण तमसः पुरस्तात्।
तमेव निदित्वाति मृत्युमेति नान्य पंथा विद्यातेऽयनाय॥

मैंने उस महापुरुष को जाना है, जो सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानादि अन्धकार से दूर है। उसी को जानकर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है, मुक्ति के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।

यह स्तुति और जैनाचार्य मानतुंग द्वारा की गई भगवान् ऋषभदेव की स्तुति शब्द-साम्य की दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। भक्तामर स्तोत्र में वे कहते हैं :

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुंमान्स ।
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं ।
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पंथा ।

हे ऋषभदेव भगवन् ! तुम्हें मुनिजन परम पुरुष मानते हैं । तुम सूर्य के समान तेजस्वी, मल-रहित और अज्ञान आदि अन्धकार से दूर हो । तुम्हें भलीभाँति जान लेने पर ही मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है । हे मुनीन्द्र ! मुक्ति प्राप्त करने का और कोई सरल मार्ग नहीं है ।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों के शब्द और भाव देखने से सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों स्तुतियाँ एक ही व्यक्ति को लक्षित करके की गई हैं ।

वेदों में ऋषभदेव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि, महावीर आदि तीर्थंकरों का उल्लेख किया गया है । इसकी पुष्टि राष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन्[६], डा० अलब्रेक्ट एफ. वेबर[७], प्रो० विरुपाक्ष वाडियर[८], डा० विमलाचरण लाहा[९], प्रभृति विद्वज्जन भी करते हैं ।

प्रो० विरुपाक्ष वाडियर वेदों में जैन तीर्थंकरों के उल्लेखों का कारण उपस्थित करते हुए लिखते हैं : "प्रकृतिवादी मरीचि ऋषभदेव का पारिवारिक था । वेद उसके तत्त्वानुसार होने के कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रन्थों की ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है । फलतः मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद-पुराण आदि ग्रन्थों में हैं और स्थान-स्थान पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है । कोई ऐसा कारण नहीं कि हम वैदिककाल में जैन धर्म का अस्तित्व न मानें ।"[१०]

मनुस्मृति और पुराणों में

अरसठ तीथों में यात्रा करने से जो फल होता है, मनुस्मृति में उतना फल आदिनाथ के स्मरण का माना है :

अष्टषष्टिषु तीर्थेष् यात्रायां यत्फलं भवेत् ।
श्री आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत् ॥

मार्कण्डेय पुराण[११], कूर्म पुराण[१२], वायु पुराण[१३], अग्नि पुराण[१४], ब्रह्माण्ड पुराण[१५], वाराह पुराण[१६], लिंग पुराण[१७], विष्णु पुराण[१८], स्कन्ध पुराण[१९], आदि में ऋषभदेव की स्तुति के साथ-ही-साथ उनके माता-पिता, पुत्र आदि के नाम तथा उनकी जीवन-घटनाएँ भी सविस्तार वर्णित की गई हैं ।

श्रीमद् भागवत पुराण

श्रीमद् भागवत पुराण में उनके सुविस्तृत जीवन-प्रसंग प्रस्तुत करते हुए ज्ञान की सात भूमिकाओं में से पदार्थभावना और असंसक्ति की भूमिकाओ के रूप में ऋषभदेव और भरत का जीवन-दर्शन विश्लेषित किया गया है ।

माता-पिता के नाम, सौ पुत्रों का उल्लेख, साधना के प्रकार, ऋषभदेव का पुत्रों को उपदेश, सामाजिक व धार्मिक नीतियों का प्रवर्तन व भरत की अनासक्ति आदि का वर्णन सविस्तार किया गया है ।

श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्ध, अध्याय ३ में अवतारों का वंर्णन करते हुए बताया गया है– "राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवा के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान् ने आठवां अवतार ग्रहण किया । इस रूप में उन्होंने परमहंसों का वह मार्ग दिखाया, जो सभी आश्रमवासियों के लिए वन्दनीय है ।"[२०]

द्वितीय स्कन्ध, अध्याय सात में लोकावतारों का वर्णन करते हुए कहा है– "राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से भगवान् ने ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया । इस अवतार में समस्त आसक्तियों से रहित रह कर, अपनी इन्द्रियों और मन को अत्यन्त शान्त करने एवं अपने स्वरूप में स्थित होकर समदर्शी के रूप में उन्होंने मूढ़ पुरुषों के वेष में योग साधना की । इस स्थिति को महर्षि लोग परमहंस-पद अथवा अवधूत-चर्या कहते हैं ।"[२१]

श्रीमद् भागवत के पंचम स्कन्ध, अध्याय २ से १४ तक ऋषभदेव, भरत तथा बाद में जड़ भरत का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया गया है ।

विदेश में

सुप्रसिद्ध पादरी रेवरेण्ड ऐब्बे जे० ए० डुबाई ने अपनी फ्रांसीसी भाषा की पुस्तक में लिखा है "एक युग में जैन धर्म सारे एशिया में

साइबेरिया से कन्याकुमारी तक और केस्पियन झील से लेकर केम्सचटका खाड़ी तक फैला था ।" रेवरेण्ड डुबाई के इस मत की पुष्टि में प्रमाणों की अल्पता नहीं है । विदेशों में बहुत सारे स्थानों पर खुदाई में तीर्थंकरों की विभिन्न मुद्राओं में मूत्तियां प्राप्त हुई हैं तथा वहाँ की अनुश्रुतियों में प्रसिद्ध नाना घटनाएँ भी इस तथ्य का विशद उद्घाटन करती हैं । भगवान ऋषभदेव विदेशों में पूज्य रहे हैं तथा वहाँ 'कृषि के देवता', 'वर्षा के देवता' और 'सूर्यदेव' के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं । डा० कामताप्रसाद जैन ने उन सब मान्यताओं का विद्वानों की नाना गवेषणाओं के आधार पर वर्गीकरण करते हुए लिखा है– "पूर्व में चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित हैं । चीनी त्रिपिटक में उनका उल्लेख मिलता है । जापानी उनको रोकशब Rik'shab कह कर पुकारते हैं । मध्यएशिया, मिश्र और यूनान में वे सूर्यदेव ज्ञान की अपेक्षा से और फोनेशिया में रेशेफ बैल चिह्न की अपेक्षा से कहलाये । मध्यएशिया में वृषभ (बैल) देव Bull-god अर्थात् 'वाड आल' नाम से उल्लिखित किए गये । फणिक लोगों की भाषा में 'रेशेफ' शब्द का अर्थ 'सींगों वाला देवता' होता है, जो ऋषभ के बैल चिह्न का द्योतक है– साथ ही रेशेफ शब्द का साम्य भी ऋषभ शब्द से है ।" प्रो० आर० जी० हर्षेल ने "बुलेटिन आव दी डेक्कन कालेज रिसर्च एन्स्टीच्यूट" (भा० १४, खण्ड ३, पृ० २२९-२३६) में एक गवेषणात्मक लेख निकालकर इस साम्य को स्पष्ट किया है । उन्होंने बताया कि आलसिफ (साइप्रस) से प्राप्त अपोलो (सूर्य) की ई० पूर्व १२वीं शती की मूर्ति का अपर नाम रेशेफ Reshef उसके लेख से स्पष्ट होता है । यह रेशेफ ऋषभ का ही अपभ्रंश रूप है और यह ऋषभ भारतीय नरेश नाभि पुत्र होना चाहिये । यूनान में सूर्यदेव अपोलो की ऐसी नंगी मूर्तियां मिली हैं, जिनका साम्य ऋषभ भगवान की मूर्तियों से है । डा० कालिदास नाग ने मध्य एशिया में डेल्फी से प्राप्त एक आर्गिव मूर्ति का चित्र अपनी पुस्तक "डिस्कवरी आव एशिया" में दिया है, जो लगभग दस हजार वर्ष पुराना है और बिल्कुल भगवान ऋषभ की दिगम्बर जैन मूर्तियों के समान है । ऋषभ मूर्ति की विशेषता कन्धों पर लहराती जटाएँ इसमें भी हैं । 'अर्गिव'

शब्द का अर्थ कदाचित् अग्रमानव या अग्रदेव के रूप में लिखा जा रहा प्रतीत होता है ।

फणिक लोग जैन धर्म भक्त भी थे, यह बात जैन कथा-ग्रन्थों से प्रमाणित है । अतः फणिकों के 'बाऽल' Bull-god ऋषभ प्रतीत होते हैं । यह नाम प्रतीकवाद (symbolic) शैली का हैं ।[२२]

इतिहास के सन्दर्भ में

जैन धर्म अनादि हैं । प्रत्येक काल-चक्रार्ध के उत्सर्पणी और अवसर्पणी में चौबीस तीर्थंकर होते हैं, जो कालक्रम से अपवर्तन के चक्र में फँसे हुए धर्म को उद्वर्तन देते हैं । उद्वर्तन और अपवर्तन की नाना प्रक्रियाओं को कुछ अनुसन्धाता एतिह्य तथ्यों के आधार पर परखने के अनन्तर जब कुछ तथ्य प्रकट करते हैं, तब वह केवल श्रद्धा-गम्य ही नहीं रह जाता, अपितु तर्क-गम्य भी हो जाता है । चौबीस तीर्थंकर श्रद्धा-गम्य तो हैं ही, तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर की ऐतिहासिकता में अब सन्देह नहीं रह गया है तथा बाइसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि भी विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक पुरुष माने जा चुके हैं । प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समय तक इतिहास अभी नहीं पहुँच पाया हैं, फिर भी जहाँ तक वह पहुँचा है, भगवान ऋषभदेव के बारे में भी अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

मोहन-जो-दड़ों की खुदाई से प्राप्त होनेवाली मुहरों में कुछ पर एक ओर नग्न ध्यानस्थ योगी की आकृति है और दूसरी ओर वृषभ का चिह्न है । वृषभ भगवान ऋषभदेव का लांछन था; अतः यह अनुमान सहज ही हो जाता है कि उस समय में भी उनकी पूजनीयता प्रसिद्ध थी ।

दो हजार वर्ष पूर्व राजा कनिष्क तथा हुविष्क आदि के शासन में हुई खुदाई में प्राप्त शिलालेख मथुरा के संग्रहालय की आज भी शोभा बढ़ा रहे हैं । डा० फुहरर ने उन शिलालेखों से प्राचीन इतिवृत्त का अनुसन्धान कर यह निर्णय दिया था कि प्राचीन समय में जैनी ऋषभदेव की मूर्तियाँ बनाते थे ।

श्री विसेण्ट ए॰ स्मिथ का कहना है : "मथुरा से प्राप्त सामग्री लिखित जैन परम्परा के समर्थन में विस्तृत प्रकाश डालती है और जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह बतलाती है कि प्राचीन समय में भी वह अपने इसी रूप में मौजूद था । ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भी वह अपने विशेष चिह्नों के साथ चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता में दृढ़ विश्वासी था ।"[२३]

जर्मन के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा॰ हर्मन जेकोबी[२४] जिन्होंने तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता पर महत्वपूर्ण अनुसन्धान किया था, अपनी गवेषणा के अनन्तर कहते हैं : "पार्श्वनाथ को जैन धर्म के प्रणेता या संस्थापक सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है । जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने में एक मत है । इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की सम्भावना है ।"

श्री स्टीवेन्सन की गवेषणा डा॰ हर्मन जेकोबी के अभिमत की पुष्टि करती है । वे लिखते हैं : "जब जैन और ब्राह्मण; दोनों ही ऋषभदेव को इस कल्प-काल में जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं तो इस मान्यता को अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता ।"[२५]

वरदाकान्त मुखोपाध्याय एम॰ ए॰ ने विभिन्न ग्रन्थों तथा शिलालेखों का अध्ययन करने के अनन्तर आत्म-विश्वास के साथ यह अभिमत प्रकट किया था : "लोगों का यह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे, किन्तु, इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेव ने किया था। इसकी पुष्टि में प्रमाणों का अभाव नहीं है ।"[२६]

कुछ विद्वानों व गवेषकों ने तीर्थंकरों के बारे में तो अपना अभिमत प्रकट नहीं किया है, पर, वे अपने अनुसन्धान के आधार पर जैन धर्म को सृष्टि का आदि धर्म, प्रागैतिहासिक धर्म, अतिप्राचीन धर्म तथा स्वतन्त्र धर्म प्रमाणित करते है ।

सन् १८१७ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सुप्रसिद्ध पादरी रेवरेण्ड एब्बे जे॰ ए॰ डुबाई द्वारा फांसीसी भाषा में लिखित पुस्तक का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद प्रकाशित किया था । उसमें जैन धर्म के बारे में

अपना अभिमत, व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं : "निस्सन्देह जैन धर्म ही सारे संसार में एक सच्चा धर्म है और यही समस्त मनुष्यों का आदि धर्म है ।"[२७]

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जैन धर्म को अनादि मानते हुए लिखते हैं : "ग्रन्थों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि जैन धर्म अनादि है । यह विषय निर्विवाद तथा मतभेद से रहित है । इस विषय में इतिहास के सबल प्रमाण हैं...जैन धर्म प्राचीनता में पहले नम्बर हैं । प्रचलित धर्मों में जो प्राचीन धर्म हैं, उनमें भी यह प्राचीन है ।"[२८]

संस्कृत कालेज वाराणसी के प्राध्यापक महामहोपाध्याय पंडित राममिश्र शास्त्री ने जैन धर्म की प्राचीनता को सप्रमाण स्वीकार करते हुए कहा है : "जैन धर्म तब से प्रचलित हुआ, जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ । इसमें मुझे किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है कि जैन दर्शन वेदान्तादि दर्शनों से पूर्व का है ।"

सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो॰ मैक्समूलर जैन धर्म को किसी भी धर्म की शाखा मानने को तैयार नहीं है । वे लिखते हैं : "विशेषतः प्राचीन भारत में किसी भी धर्मान्तर से कुछ ग्रहण करके एक नूतन धर्म प्रचार करने की प्रथा ही नहीं थी । जैन धर्म हिन्दू धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है। वह उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं है ।"

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मेजर जनरल जे॰ सी॰ आर॰ फर्लांग एफ॰ आर॰ एस॰ ई॰ ने जैन धर्म के बारे में जो अपना अभिमत व्यक्त किया है, वह पूर्व विचारों को अच्छी तरह से पुष्टि कर देता है । उनकी सुदृढ़ मान्यता थी कि ईसा से अनगिनत वर्ष पूर्व भारत में जैन धर्म फैला हुआ था । आर्य लोग जब भारत में आये, तब यहाँ जैन धर्म के अनुयायी अवस्थित थे । बौद्ध धर्म ने प्राचीन ईसाई धर्म को कैसे प्रभावित किया, इस प्रश्न को समाहित करते हुए वे लिखते हैं : "बौद्ध धर्म ने प्राचीन ईसाई धर्म को कौन से ऐतिहासिक साधनों से प्रभावित किया, इसकी गवेषणा करते हुए यह निस्सन्देह स्वीकार करना होगा कि इस धर्म ने जैन धर्म को स्वीकार किया था, जो वास्तव में अरबों-खरबों वर्षों से करोड़ों मनुष्यों का प्राचीन धर्म था ।"[२९]

"जैन धर्म के आरम्भ को जान पाना असम्भव है।"[३०]

"भारतवर्ष का सबसे प्राचीन धर्म जैन धर्म ही है।"[३१]

१३ सितम्बर १९५६ को जापान के शिमिजू नगर में विश्व धर्म परिषद् की आयोजना की गई। बर्मा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश मा॰ यूचान तुन आँग ने अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए वहाँ कहा था: "जैन धर्म संसार के ज्ञात सभी प्राचीन धर्मों में से एक है और उसका घर भारत है।"[३२]

डा॰ जिम्मर जैन धर्म को प्राग्ऐतिहासिक व वैदिक धर्म से स्वतन्त्र तथा प्राचीन मानते हुए लिखते हैं: "ब्राह्मण-आर्यो से जैन धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई है, अपितु वह बहुत प्राचीन, प्राग्-आर्य उत्तर-पूर्वी भारत की उच्च श्रेणी के सृष्टि-विज्ञान और मनुष्य के आदि विकास तथा रीति-रिवाजों के अध्ययन को व्यक्त करता है।"[३३]

जैन धर्म की प्रागैतिहासिकता, अतिप्राचीनता तथा अनादिता में विश्वास होने से भगवान ऋषभदेव के अस्तित्व में भी सहज आस्था हो जाती है।

---

१. अर्हन् विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रूद्र त्वदस्ति॥
—ऋग्वेद, मं॰ २ अ॰ ४ सू॰ ३३ वर्ग १०

२. क—इमंस्तोममर्हते जातदेवसेरथमिव संमहेमामनीषया।
भद्राहिनः प्रमतिरस्यसंसद्यग्ने सख्ये मारिषामावयं तव॥
—ऋग्वेद, मं॰ १ अ॰ १५ सू॰ ९४

ख—अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामि शवसः।
प्रयज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चाहमद्धःय॥
—ऋग्वेद, मं॰ ५ अ॰ ४ सू॰ ५२

ग—तावृधन्तावनु द्यून्मर्ताय देवावदभा।
अर्हन्ताचित्पुरी दधेऽशेव देवावर्वते॥
—ऋग्वेद, मं॰ ५ अ॰ ६ सू॰ ८६

घ—ईडितो अग्ने सनसानो अर्हन्देवान्यक्षि मानुषात्पूर्वो अद्य।
स आवह मरूतां शर्धो अच्युतमिन्द्रं नरोबर्हिषदंयजध्वं॥
—ऋग्वेद, मं॰ २ अ॰ ११ सू॰ ३

३. ऊँ सुपार्श्वमिन्द्र हवे — यजुर्वेद

४. क–ऊँ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा – यजुर्वेद, अ० २३

ख–तवां रथं वयद्याहुवेमस्तो मेरश्विना सविताय नव्यं ।
अरिष्टनेमि परिद्यामियानं विद्यामेषं वृजनं जीरदानम् ॥
–ऋग्वेद, अ० २ अ० ४ व २४

ग–वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमा, च व्विश्वा भुवनानि सर्वतः ।
स नेमिराजा परियाति व्विद्वान्, प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मै स्वाहा ॥
–यजुर्वेद, अ० ९ मंत्र २५

घ–स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धाश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्वदेवाः ।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ॥
–सामवेद, प्रपा० ९ अ० ३

५. क–आतिथ्यरूपम्मासरम्महावीरस्य नग्नहुः ।
रूपमुपसदामेतिस्त्रो रात्रों सुरासुता ॥
–यजुर्वेद, अ० १९ मं० १४

ख–देववहिवर्धमानं सुवीरं, स्तीर्ण रामेसुमर वेद्यस्याम् ।
घृतेनाक्तवसवः सीदतेदं, विश्वे देवा आदित्यायज्ञियासः ॥
–ऋग्वेद, मं० २ अ० १ सू० ३

६. Indian Philosophy, Vol. 1, P. 287
७. Indian Antiquary, Vol. 3, P. 901
८. जैनपथ प्रदर्शक (आगरा) भा० ३, अं० ३, पृ० १०६
९. Historical Gleanings, P. 78
१०. अजैन विद्वानों की सम्मतियां, पृ० ३१
११. अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः ।
ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः ॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राब्राज्यमास्थितः ।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंशयः ॥
–मार्कण्डेय पुराण, अ० ५०

१२. हिमाह्वयं तु यद्धर्य नाभेरासीन्महात्मनः ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रौ मेरुदेव्या महाद्युतिः ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं भरत पृथिबीपतिः ॥
–कूर्म पुराण, अ० ४१

१३. नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मेरूदेव्या महाद्यतिः ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वश्रत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ॥
–वायु पुराण, पुर्वार्ध अ० ३३

१४. जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम् ।
नाधर्म मध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभितः ॥
ऋषभो मरूदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
ऋषभोदात्त श्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरिं गतः ॥
—अग्नि पुराण, अ० १०

१५. नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरूदेव्या महाद्युतिम ।
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजनम् ॥
ऋषभाद भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः ॥
हिमाह्वयंदक्षिणं वर्ष तस्य नाम्ना विदुबुधाः ।
—ब्रह्माण्ड पुराण, पुर्वार्ध, अनुषङ्गपाद, अ० १४

१६. नाभिमेरूदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभसामनं तस्य भरतः पुत्रश्च ।
—वाराह पुराण, अ० ७४

१७. नाभेर्निसर्ग वक्ष्यामि हिमाङ्केऽस्मिन्निबोधतः ।
नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरूदेव्यां महामतिः ॥
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः ।
ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान् ॥
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम् ।
नग्नो जटो निराहारोऽचीरी ध्वांतगतो हि सः ॥
निराशस्त्यक्तसंदेहः शैवमाप परं पदम् ।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत् ॥
—लिङ्ग पुराण, अ० ४७

१८. न ते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा ।
हिमाह्वयं तु वै वर्ष नाभेरासीन्यहात्मनः ॥
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरूदेव्यां महाद्यतिः ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ॥
—विष्णु पुराण, द्वितीयांश, अ० १

१९. नाभे पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
—स्कन्ध पुराण, माहेश्वर खण्डके कौमारखण्ड, अ० ३७

२०. अष्टमे मेरूदेक्यां तु नाभे र्जात उरूक्रम ।
दर्शयत् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रम नमस्कृतम् ॥
—श्रीमद् भागवत, स्कन्ध १, अ० ३ श्लोक १३

२१. नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु, यों बैचचार समदृग् जडयोगचर्याम् ।
यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति, स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः ॥
—श्रीमद् भागवत, स्कन्ध २, अ० ७, श्लोक १०

२२. भिक्षु स्मृतिग्रन्थ, अध्याय २, पृ० ४

२३. The discoveries have to a very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion and of its early existence very much in its present form. The series of twentyfour pontiffs (Tirthankaras, each with his distinctive emblem, was evidently firmly believed in at the beginning of the Christian era.

–The Jain Stup-Mathura, Intro., P.6

२४. There is nothing to prove that Parsva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara as its founder. There may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara.

–Indian Antiquary, vol., ix p. 163

२५. It is so seldom that Jains and Brahmanas agree; that I do not see how we can refuse them credit in this instance where they do so.

–Kalpa sutra, Intro, p. xvi

२६. जैन धर्म की प्राचीनता, पृ० ८

२७. Yea, his (Jain) religion is the only true one upon earth, the primitive faith of all mankind.–Description of the Character, Manners and Customs of the People of India and of their Institutions–Religious and Civil.

२८. अहिंसा-वाणी, वर्ष ६ अंक ४, जुलाई ५६, पृ० १९७-१९८

२९. Through what historical channels did Buddhism influenced early Christianity? We must widen this enquiry by making it embrace Jainism, undoubtedly prior faith for very many millions of years.

–The Short Study in Science of Comparative Religion.

(Intro. p. 1.)

३०. It is impossible to find a beginning for Jainism.

(Ibid, p. 14)

३१. Jainism thus appears an earliest faith of India.

(Ibid, p. 15)

३२. अहिंसा-वाणी, वर्ष ६ अंक ७, अक्टूबर १९५६, पृ० ३०५

३३. Jainism does not derive from Brahmana Aryan sources, but reflects the cosmology and anthropology of a much old, pre-Aryan upper class of North-Eastern India.

–The Philosophies of India, p. 217.

अष्टापदगिरि-कल्प

अनुवाद- श्री भंवरलाल नाहटा

अष्टापद-स्वर्ण के समान देह की कान्ति वाले भवरूपी हस्ती के लिए अष्टापद के समान श्री ऋषभदेव को नमस्कार करके अष्टापद गिरि का कल्प संक्षेप से कहता हूँ ।

इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दक्षिण भरतार्द्ध में भारतवर्ष में नौ योजन चौड़ी और बारह योजन लंबी अयोध्या नामक नगरी है । यही श्री ऋषभ-अजित-अभिनंदन-सुमति-अनंतादि जिनेश्वरों की जन्मभूमि है । इस के उत्तर दिशा में बारह योजन पर अष्टापद नामक कैलाश अपर नाम वाला रम्य गिरिश्रेष्ठ आठ योजन ऊँचा, स्वच्छ स्फटिक शिलामय है । इसी से लोगों में धवलगिरि नाम भी प्रसिद्ध है । आज भी अंयोध्या के निकटवर्ती उड्डयकूट पर स्थित होने पर आकाश निर्मल हो तो उसकी धवल शिखर पक्तियाँ दीखती हैं । फिर वह महासरोवर, घने सरस वृक्ष, पानी के पूरे वाले झरनों से युक्त, परिपार्श्व में संचरण करते जलधन मत मोर आदि पक्षियों के कोलाहल युक्त, किन्नर-विद्याधर रमणियों से रमणीक, चैत्यों को वंदन करने के लिए आने वाले चारण श्रमणादि लोगों के दर्शनमात्र से भूख प्यास हरण करने वाला निकटवर्त्ती मानसरोवर विराजित है । इसकी उपत्यका में साकेतवासी लोग नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ कराते है ।

इसी के शिखर पर ऋषभदेव स्वामी चतुर्दश भक्त से पर्यकासन स्थित, दस हजार अणगारों के साथ माधी कृष्ण त्रयोदशी के दिन अभिजित नक्षत्र में पूर्वाह्ण में निर्वाण प्राप्त हुए । शक्रादि ने वहां स्वामी का देह-संस्कार किया । पूर्व दिशा में स्वामी को चिता, दक्षिण दिशा में इक्ष्वाकुवंशियों की और पश्चिम दिशा में शेष साधुओं की थी । उन तीन चिताओं पर देवों ने तीन स्तूप निर्मित किये । भरत चक्रवर्ती ने स्वामी के संस्कार के निकटवर्ती भूतल पर एक योजन लंबा, आधा

योजन चौड़ा, तीन कोश ऊँचा सिंहनिषद्या नामक प्रासाद रत्नोपल-वार्द्धकि रत्न के द्वारा बनवाया। उसके स्फटिक रत्नमय चार द्वार है। उभय पक्ष में सोलह रत्न चंदन कलश है। प्रत्येक द्वार पर सोलह रत्नमय तोरण है। द्वार-द्वार पर सोलह अष्टमंगल है। उन द्वारों में चार विशाल मुख्य मण्डप हैं। उन मुख्य मण्डपों के आगे चार प्रेक्षामण्डप है। उन प्रेक्षामण्डपों के मध्य भाग में वज्रमय अक्षवाटक हैं। प्रत्येक अखाड़े के बीच में रत्नसिंहासन हैं। प्रत्येक प्रेक्षामण्डप के आगे मणि-पीठिकाएँ है। उनके ऊपर रत्नमय चैत्य-स्तूप है। उन चैत्य-स्तूपों के आगे प्रत्येक के प्रतिदिशा में बड़ी विशाल पूजा-मणि पीठिका हैं। उन प्रत्येक के ऊपर चैत्य वृक्ष है। चैत्य स्तूप के सम्मुख पाँच सौ धनुष प्रमाण वाली सर्वांग रत्न निर्मित ऋषभ-वर्द्धमान-चन्द्रानन-वारिषेण नामक पर्यकासन विराजित मनोहर शास्वत जिनप्रतिमाएँ नन्दीश्वर द्वीप चैत्य मध्य स्थित की भाँति हैं। उन चैत्य-स्तूपों के आगे प्रत्येक चैत्य-पादप हैं। उन चैत्य-वृक्षों के आगे मणिपीठिकाएँ हैं। उन प्रत्येक के ऊपर इन्द्रध्वजाओं के आगे तोरण और सोपान युक्त, स्वच्छ शीतल जल से पूर्ण, विचित्र कमल शालिनी, मनोहर दधि मुखाधार पुष्करिणी के सदृश नन्दा पुष्करिणी है।

सिंह-निषद्या महाचैत्य के मध्य भाग में विशाल मणिपीठिका है। उनके ऊपर चित्र रत्नमय देवच्छंदक है। उसके ऊपर नाना वर्ण के सुगम उल्लेख है। उल्लोचों के अन्तर पार्श्व में वज्रमय अंकुश हैं। उन अंकुशों से अवलम्बित घड़े में आने योग्य आँवले जैसे प्रमाण के मुक्ताओं के हार हैं। हार-पंक्तियों में विमल मणिमालिकाएँ है। मणिमालिकाओं के नीचे वज्रमालिका है। चैत्य भिती में विचित्र मणिमय गवाक्ष हैं, जिनमें जलते हुए अगर धूप समूह की मालिकाएँ हैं।

उस देवच्छंदक में रत्नमय ऋषभादि चौबीस जिनप्रतिमाएँ अपने-अपने संस्थान, प्रमाण और वर्ण वाली भरत चक्रवर्त्तीकारित हैं। उनमें सोलह प्रतिमाएँ ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, सुपार्श्व, शीतल, श्रेयांस, विमल, अनन्त, शान्ति, कुन्थु, अर, नमि और महावीर भगवान की स्वर्णमय हैं। मुनिसुव्रत और नेमिनाथ की लाजवर्तमय है।

Snow Covered Mt. Kailas

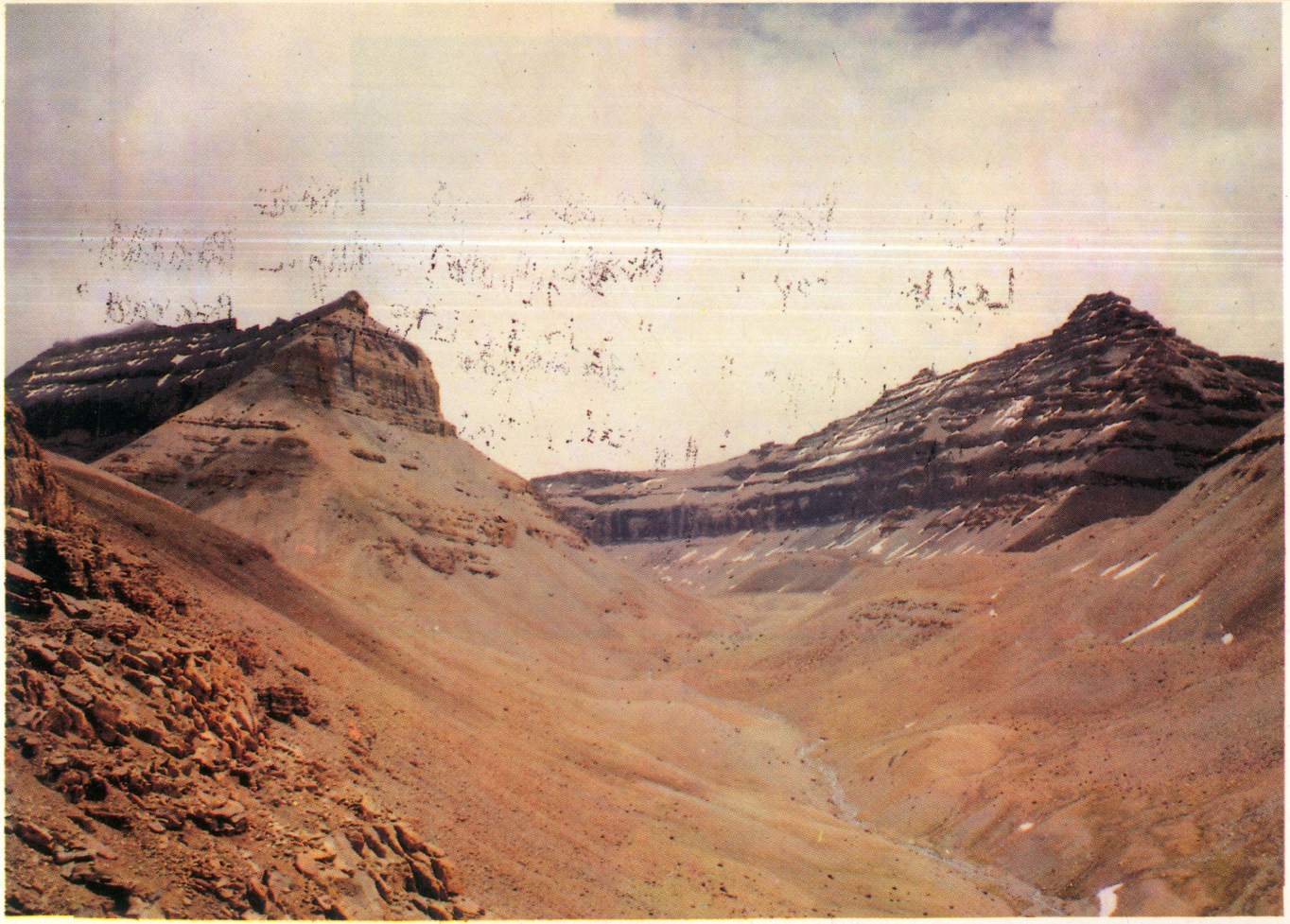

Left - Nandi

Right - Gopuram images

चन्द्रप्रभ और सुविधिनाथ की स्फटिक रत्नमय हैं। मल्लि और पार्श्वनाथ की वैदूर्यमय हैं। पद्मप्रभ और वासुपूज्य भगवान की पद्मरागमय हैं। उन सब प्रतिमाओं के लोहिताक्ष प्रतिषेक पूर्ण अंक रत्नमय नख हैं। नखपर्यन्त जावयर के जैसे लोहिताक्ष मणि रस का जो सिंचन किया जाता है उसे प्रतिषेक कहते हैं। नाभि, केशान्तभूमि, जिह्वा, तालु, श्रीवत्स, चुचुक, हाथ और पाँवों के तले तपनीय स्वर्णमय हैं। नयनपद्म, कनीनिकाएँ, मंशु, भौहे, रोम और शिरके केश अरिष्ट रत्नमय हैं। ओष्ठ विद्रुममय हैं, दन्त स्फटिकमय हैं, शीर्षघटिका वज्रमय हैं। अन्दर लोहिताक्ष प्रतिषेक वाली स्वर्णमय नाशिकाएँ हैं। लोहिताक्ष प्रतिषेक प्रान्त वाले अंकमय लोचन हैं। उन प्रतिमाओं के पृष्ठ भाग में प्रत्येक के एक-एक मुक्ताप्रवाल जाल कंस कोरंट मल्ल दाम वाली, स्फटिक मणि-रत्न के दण्ड वाली श्वेत छत्र को धारण करने वाली छत्रधर प्रतिमाएँ हैं। उनके दोनों ओर प्रत्येक उठाए हुए मणिचामरों वाली रत्नमयी चामरधारिणी प्रतिमाएँ हैं। प्रतिमाओं के आगे दो-दो नागप्रतिमाएँ, दो-दो यक्षप्रतिमाएँ, दो-दो भूतप्रतिमाएँ, दो-दो कुण्डधारिणी प्रतिमाएँ सर्वाङ्गोज्ज्वल रत्नमयी कृताञ्जलि हो पर्युपासना करती हैं। तथा देवछंदा में चौबीस रत्न घण्टे, चौबीस माणिक्य दर्पण और वैसे ही स्वर्णमयी स्थान स्थित दीपिकाएँ हैं। तथा रत्नकरण्डक पुष्प चंगरिया, लोमहस्त, पटलिकाएँ, आभरणकरण्डक कनकमय हैं। धूपदहनक, आरतियाँ, रत्नमय मंगलदीप, रत्नमय भृंगार, रत्नमय स्थाल, सोने के प्रतिग्रह, रत्नचन्दन के कलश, रत्नमय सिंहासन, रत्नमय अष्टमङ्गल, स्वर्णमय तेल के डब्बे, कनकमय धूपभाण्ड और स्वर्णमय कमलहस्तक हैं। ये सब प्रत्येक प्रतिमा के आगे होंते हैं। वह चैत्य चन्द्रकान्त शाल से शोभित है। ईहामृग, वृषभ, मकर, तुरंगम, नर-किन्नर, विहग, वालग, रुरू, शरभ, चमरी, गज, वनलताओं से विचित्रित रत्नस्तम्भों से समाकुल है। स्वर्ण के ध्वज-दण्डमण्डित पताका है। उपरिस्थित किंकिणी शब्द से मुखर ऊपर पद्मराग कलश से विराजित और गोशीर्ष चन्दनरम के हस्तकों से लांछित है। विचित्र चेष्टाओं वाली, अधिष्ठित नितम्ब वाली माणिक्य की शालभंजिकाएँ, चन्दनरस से लिप्त कलशयुग से अलंकृत द्वारदेश के ऊभय पक्ष में शोभायमान हैं। तिरछी बाँध के लटकाई हुई धूपित-सुगन्धित

सुन्दर मालाएँ, पंचवर्ण कुसुम रचित गृहतल, कर्पूर, अगर, कस्तूरी, धूपधूमधारित अप्सरागण संकीर्ण, विद्याधरी-परिवृत, आगे-पीछे और पार्श्व में चारु चैत्य पादपों, मणिपीठिकाओं से विभूषित भरत की आज्ञा से यथाविधि वार्धकिरत्न के द्वारा निष्पादित है। वहीं दिव्य रत्न-शिलामय ९९ भाइयों की प्रतिमाएँ बनवाई। सुश्रूषा करती हुई अपनी प्रतिमा भी बनवाई। चैत्य के बाहर भगवान ऋषभदेव स्वामी का एक स्तूप और ९९ भाइयों के स्तूप करवाए। मनुष्य लोग यहाँ आवागमन करके आशातना न करें इसलिए लोहयंत्रमय आरक्षक पुरुष बनवाए जिससे वह अगम्य हो गया। पर्वत की चोटियाँ भी दण्डरत्न से तोड़ दी, अतः वह गिरिराज अनारोहणीय हो गया। योजन-योजन के अन्तर से मेखलारूप आठ सीढ़ियाँ-पदों द्वारा मनुष्यों के लिए अलंध्य कर दिया। जिससे अष्टापद नाम प्रसिद्ध हो गया।

फिर कालक्रम से चैत्यरक्षण के निमित्त सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों ने दण्डरत्न से पृथ्वी को खोद कर सहस्त्र योजन की परिखा की। दण्डरत्न से गंगातट को विदीर्ण कर जल से पूर्ण किया। तब गंगा को खाई में भरने से अष्टापदासन्न ग्रामनगर, पुरादि डूबने लगे। अतः उसे दण्ड-रत्न से निकाल कर कुरु देश के बीच से, हस्तिनापुर के दक्षिण से कोशल देश के पश्चिम, प्रयाग से उत्तर, काशी देश से दक्षिण, वत्सदेश में दक्षिण से, मगध के उत्तर से नदी का मार्ग काटते हुए सगरादिष्ट जण्हुपुत्र भागीरथ कुमार ने पूर्वी समुद्र में उतार दिया। तब से गंगासागर तीर्थ हो गया।

इसी पर्वत पर ऋषभदेव स्वामी के आठ पौत्र, और बाहुबलि प्रमुख निनाणवें पुत्र भी स्वामी के साथ सिद्ध हुए। इस प्रकार एक सौ आठ उत्कृष्ट अवगाहना से एक समय में आश्चर्यभूत सिद्ध हुए।

श्री वर्द्धमान स्वामी ने स्वयं कहा कि "जो मनुष्य इस पर्वत पर स्वशक्ति से चढ़ कर चैत्यों की वन्दना करेगा वह इसी भव में मोंक्ष प्राप्त होगा।" यह सुनकर लब्धिनिधान भगवान गौतम स्वामी इस पर्वतश्रेष्ठ पर चढ़े। चैत्यों की वन्दना कर अशोक वृक्ष के नीचे वैश्रमण के आगे तप से कृश अंग का वखान करते हुए स्वयं उपचित शरीर वाले अन्यथा

वादकारी हैं–ऐसे उसके विकल्प को निवारण करने के लिए पुण्डरीक अध्ययन प्रणीत किया। पुष्ट देह वाला पुण्डरीक भावशुद्धि से सर्वार्थसिद्ध गया और दुर्बल शरीर वाला कण्डरीक सातवीं नरक गया। यह पुण्डरीक अध्ययन सामानिक देव वैश्रमण ने गौतम स्वामी के मुख से सुनकर अवधारित किया। वे ही तुंबवण सन्निवेश में धनगिरि की पत्नी सुनंदा के गर्भ में उत्पन्न होकर दश पूर्वधर श्री वज्रस्वामी हुए। अष्टापद से उतरते हुए गौतम स्वामी ने कौडिन्य दिन्न-सेवालि तापसों को पन्द्रह सौ तीन की संख्या में दीक्षित किया। उन्होंने जनपरम्परा से "इस तीर्थ के चैत्यों की वंदना करने वाला इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा"–ऐसे वीर-वचनों को सुनकर प्रथम, दूसरी और तीसरी मेखला संख्यानुसार कौडिन्यादि चढ़े और इससे आगे जाने में असमर्थ थे। उन्होंने गौतम स्वामी को अप्रतिहत उतरते देखकर विस्मित हो प्रतिबोध पाया और उनके पास दीक्षित हो गए।

इसी पर्वत पर भरत चक्रवर्ती आदि अनेक महर्षि कोटि सिद्ध हुए। वहीं सगर चक्रवर्ती के सुबुद्धि नामक महामात्य ने जन्हू आदि सगर के पुत्रों के समक्ष आदित्ययशा से लेकर पचास लाख कोटि सागरोपम काल में भरत महाराजा के वंश में समुद्भूत राजर्षियों को चित्रान्तर गण्डिका से सर्वार्थसिद्धगति और मोक्ष गए बतलाया है।

इसी गिरिराज पर प्रवचन देवतानीत वीरमती ने चौबीस जिन-प्रतिमाओं के भाल-स्थल पर रत्नजड़ित स्वर्णतिलक चढ़ाए। उसके तब घूसरी भव, युगलिया भव और देव भव प्राप्त कर दमयन्ती के भव में अन्धकार को दूर करने वाला भाल-स्थान में स्वाभाविक तिलक हुआ।

इसी पर्वत पर बालि महर्षि कायोत्सर्ग करके स्थित थे। विमानस्खलन से कुपित रावण ने पूर्व वैर को स्मरण कर नीचे की भूमि खोदकर, उसमें प्रविष्ट होकर अपने वैरी सहित अष्टापद गिरि को उठाकर लवण समुद्र में फेंकने की बुद्धि से हजारों विद्याओं का स्मरण कर पर्वत को उठाया। उन राजर्षि ने अवधिज्ञान से यह जानकर चैत्य-रक्षा के निमित्त पैर के अंगूठे से गिरिशिखर को दबाया। तब इससे संकुचितगात्र दशानन मुंह से रुधिर वमन करते हुए चीखने लगा जिससे वह रावण नाम से

प्रसिद्ध हुआ । जब दयालु महर्षि ने छोड़ा तो वह चरणों में गिरकर क्षमायाचना कर स्वस्थान गया ।

यही लंकाधिपति ने जिनेश्वरदेव के समक्ष नाटक करते हुए दैवयोग से वीणा की ताँत टूटने पर नाट्य-भङ्ग न हो इस विचार से अपनी भुजा की ताँत काटकर वीणा में जोड़ दिया । इस प्रकार वीणावादन और भक्ति-साहस से सन्तुष्ट धरणेन्द्र ने तीर्थवन्दना के लिए आए हुए रावण को अमोध विजयाशक्ति रूपकारिणी विद्या दी ।

इसी पर्वत पर गौतम स्वामी ने सिंहनिषद्या चैत्य के दक्षिण द्वार से प्रवेश कर पहले संभवनाथ आदि चार प्रतिमाओं को वन्दन किया । फिर प्रदक्षिणा देते हुए पश्चिम द्वार से सुपार्श्वादि आठ तीर्थंकरों को, फिर उत्तर द्वार से धर्मनायादि दश को, फिर पूर्व द्वार से ऋषभदेव, अजितनाथ, जिनेश्वरद्वय को वन्दन किया ।

यद्यपि यह तीर्थ अगम्य है फिर भी स्फटिक वन-गहन समर वालों से जो जल में प्रतिबिम्बित चैत्य के ध्वज-कलशादि देखता है वह भाव-विशुद्धि वाला भव्य जीव वहाँ ही पूजान्हवणादि करते हुए यात्रा का फल प्राप्त करता है, क्योंकि भावोचित फलप्राप्ति कही है ।

भरतेश्वर से निर्मापित प्रतिमायुक्त इस चैत्य-स्तूपों की जो वन्दन-पूजन करते हैं वे धन्य हैं, वे श्रीनिलय है ।

श्री जिनप्रभसूरि द्वारा निर्मित इस अष्टापद-कल्प को जो भव्य अपने मन में भावना करते हैं, उनके कल्याण उल्लसित होते हैं । पहले अष्टापद-स्तवन में जो अर्थ संक्षेप से कीर्त्तन किया है वही हमने विस्तार से इस कल्प में प्रकाशित किया है ।

मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण

मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज

भारतीय जैन शिल्पकला का प्रयोजन क्या है और क्यों इसका इतना विकास हुआ– एक ऐसा विषय है, जिस पर काफी उन्मुक्त और युक्तियुक्त विचार होना चाहिए । जैन धर्म और दर्शन वैराग्यमूलक हैं । उनका सम्बन्ध अन्तर्मुख सौंदर्य से है ; किन्तु यह जिज्ञासा सहज ही मन में उठती है कि क्या अन्तर्मुख सौंदर्य की कोई बाह्म अभिव्यक्ति संभव नहीं है ? क्या कोई काष्ठ, धातु या पाषाण-खण्ड आपोआप बोल उठता है ? संभव ही नहीं है; क्योंकि यदि किसी पाषाण-काष्ठ-खण्ड आदि को शिल्पाकृति लेनी होती तो वह स्वयं वैसा कभी का कर चुका होता; किन्तु ऐसा है नहीं । बात कुछ और ही है । जब तक कोई साधक/शिल्पी अपनी भव्यता को पाषाण में लयबद्ध/तालबद्ध नहीं करता, तब तक किसी भी शिल्पाकृति में प्राण-प्रतिष्ठा असंभव है । काष्ठ, मिट्टी, पत्थर, काँसा, ताँबा-माध्यम जो भी हो–चेतन की तरंगों का रूपांकन जब तक कोई शिल्प उन पर नहीं करता, वे गूँगे बने रहते हैं।

मूर्ति जैनों के लिए साधना-आराधना का आलम्बन है । वह साध्य नहीं है, साधन है । उसमें स्थापना निक्षेप से भगवत्ता की परिकल्पना की जाती है । शिल्पी भी वही करता है । मोहन-जो-दड़ो में जो सीलें (मुद्राएँ) मिली हैं, वे भी साधन है, साध्य नहीं हैं; मार्ग हैं, गन्तव्य नहीं है; किन्तु शिल्प और कला, वास्तु और स्थापत्य के माध्यम इतने सशक्त हैं कि उनके द्वारा परम्परा और इतिहास को प्रेरक, पवित्र और कालातीत बनाया जा सकता है ।

जैन स्थापत्य और मूर्ति-शिल्प का मुख्य प्रयोजन आत्मा-की-विशुद्धि को प्रकट करना और आत्मोत्थान के लिए एक व्यवहारिक/सुमधुर भूमिका तैयार करना है, इसलिए सौंदर्य, मनोज्ञता, प्रफुल्लता, स्थितप्रज्ञता, एकाग्रता, आराधना, पूजा आदि के इस माध्यम को हम जितना भी

यथार्थमूलक तथा भव्य बना सकते हैं, बनाने का प्रयत्न करते हैं। इनमें भगवान भला कहाँ है ? कैसे हो सकते हैं ? फिर भी हैं और हम उन्हें पा सकते हैं। मूर्ति की भव्यता इस में है कि वह स्वयं साधक में उपस्थित हो और साधक की सार्थकता इसमें है कि वह मूर्ति में समुपस्थित हो। इन दोनों के तादात्म्य में ही साधना की सफलता है।

मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त सीलों (मुद्राओं) की सब में बड़ी विशेषता है कला की दृष्टि से उनका उत्कृष्ट होना। शरीर-गठन और कला-संयोजन की सूक्ष्मताओं और सौंदर्य की संतुलित/आनुपातिक अभिव्यक्ति ने इन सीलों को एक विशेष कला-संपूर्णता प्रदान की है। बहुत सारे विषयों का एक साथ सफलतापूर्वक संयोजन इन सीलों की विशेषता है।

उक्त दृष्टि से भारत सरकार के केन्द्रीय पुरातात्त्विक संग्रहालय में सुरक्षित सील क्र. ६२०/१९२८-२९ समीक्ष्य है। इसमें जैन विषय और पुरातथ्य को एक रूपक के माध्यम से इस खूबी के साथ अंकित/समायोजित किया गया है कि वे जैन पुरातत्त्व और इतिहास की एक प्रतिनिधि निधि बन गये हैं। न केवल पुरातात्त्विक अपितु इतिहास और परम्परा की दृष्टि से भी इस सील (मुद्रा) का अपना महत्त्व है।

इसमें दायीं ओर नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में भगवान ऋषभदेव हैं, जिनके शिरोभाग पर एक त्रिशूल है, जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) का प्रतीक है। निकट ही नतशीश हैं उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत, जो उष्णीष धारण किये हुए राजसी ठाठ में हैं। वे भगवान के चरणों में अंजलिबद्ध भक्तिपूर्वक नतमस्तक हैं। उनके पीछे वृषभ (बैल) है, जो ऋषभनाथ का चिह्न (पहचान) है। अधोभाग में सात प्रधान आमात्य हैं, जो तत्कालीन राजसी गणवेश में पदानुक्रम से पंक्तिबद्ध हैं।

चक्रवर्ती भरत सोच रहे हैं : 'ऋषभनाथ का अध्यात्म-वैभव और मेरा पार्थिव वैभव!! कहाँ है दोनों में कोई साम्य ? वे ऐसी ऊँचाइयों पर हैं जहाँ तक मुझ अकिंचन की कोई पहुँच नहीं है।' भरत की यह निष्काम भक्ति उन्हें कमल-दल पर पड़े ओसबिन्दु की भाँति निर्लिप्त बनाये हुए है। वे आकिचन्य-बोधि से धन्य हो उठे हैं।

'सर्वार्थसिद्धि' १-१ (आचार्य पूज्यपाद) में कहा है : **मूर्त्तमिव मोक्षमार्गवाग्विसर्गं वपुषा निरुपयन्तम्** (वे निःशब्द ही अपनी देहाकृति मात्र से मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले हैं)। शब्द जहाँ घुटने टेक देता है, मूर्ति वहाँ सफल संवाद बनाती है। मूर्ति भक्ति का भाषातीत माध्यम है। उसे अपनी इस सहज प्रक्रिया में किसी शब्द की आवश्यकता नहीं है। उसकी अपनी वर्णमाला है; इसीलिए मिट्टी, पाषाण आदि को आत्मसंस्कृति का प्रतीक माना गया है।

कौन नहीं जानता कि मूर्ति पाषाण आदि में नहीं होती, वह होती है वस्तुतः मूर्तिकार की चेतना में पूर्वस्थित जिसे कलाकार क्रमशः उत्कीर्ण करता है अर्थात् वह काष्ठ आदि के माध्यम से आत्माभिव्यंजन, या आत्मप्रतिबिम्बिन करता है। पाषाण जड़ है; किन्तु उसमें जो रूपायित या मूर्तित है वह महत्त्वपूर्ण है। मूर्ति में सम्प्रेषण की अपरिमित ऊर्जा है। यही ऊर्जा, या क्षमता साधक को परम भगवता/परमात्मतत्त्व से जोड़ती है अर्थात् साधक इसके माध्यम से मूर्तिमान तक अपनी पहुँच बनाता है।

शिल्पशास्त्र प्रथमानुयोग का विषय है। विशुद्ध आत्मबोधि से पूर्व हम इसी माध्यम की स्वीकृति पर विवश हैं। आगम क्या है ? आगम माध्यम है सम्यकत्व तक पहुँचने का। आगम केवली के बोधि-दर्पण का प्रतिबिम्ब है, जिसका अनुगमन हम श्रद्धा-भक्ति द्वारा कर सकते हैं। 'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति है : **आगमयति हिताहितं बोधयति इति आगमः** (जो हित-अहित का बोध कराते हैं, वे आगम हैं)। तीर्थंकर की दिव्यवाणी को इसीलिए आगम कहा गया है।

कहा जा सकता है कि अध्यात्म से पुरातत्त्व/मूर्तिशिल्प आदि की प्राचीनता का क्या सम्बन्ध है ? इस सिलसिले में हम कहेंगे कि शिल्पकला आदि के माध्यम से आगम बोधगम्य बनता है और हम बड़ी आसानी से उस कंटकाकीर्ण मार्ग पर पग रखने में समर्थ होते हैं।

जैन धर्म की प्राचीनता निर्विवाद है। प्राचीनता के इस तथ्य को हम दो साधनों से जान सकते हैं; पुरातत्त्व, इतिहास। जैन पुरातत्त्व का प्रथम सिरा कहाँ है, यह तय करना कठिन है; क्योंकि

मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में ऐसी कुछ सामग्री मिली है, जिसने जैन धर्म की प्राचीनता को आज से कम-से-कम ५००० वर्ष आगे धकेल दिया है।[1] सिन्धुघाटी से प्राप्त मुद्राओं के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि 'कायोत्सर्ग मुद्रा' जैनों की अपनी लाक्षणिकता है। प्राप्त मुद्राओं की तीन विशेषताएँ हैं: कायोत्सर्ग मुद्रा, ध्यानावस्था, और नग्नता (दिगम्बरत्व)।[2]

मोहन-जो-दड़ो की सीलों पर योगियों की जो कायोत्सर्ग मुद्रा अंकित है उसके साथ वृषभ भी है। वृषभ ऋषभनाथ का चिह्न (लांछन) है। पद्मचन्द्र कोश में ऋषभ का व्युत्पत्तिक अर्थ दिया है : 'संपूर्ण विद्याओं के पार जाने वाला एक मुनि।'[3] हिन्दु पुराणों में जो वर्णन मिलता है उसमें ऋषभ और भरत दोनों के विपुल उल्लेख हैं। पहले माना जाता रहा है कि दुष्यन्तपुत्र भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारत हुआ; किन्तु अब यह निर्भ्रान्त हो गया है कि भारत ऋषभ-पुत्र 'भरत' के नाम पर ही 'भारत' कहलाया।[4] इसका पूर्वनाम अजनाभवर्ष था। नाभि (अजनाभ) ऋषभ के पिता थे। उन्हीं के नाम पर यह अजनाभवर्ष कहलाया। 'वर्ष' का अर्थ है 'देश'; तदनुसार 'भारतवर्ष' का अर्थ हुआ 'भारतदेश'। मोहन-जो-दड़ो की संकेतित सील में भरत चक्रवर्ती की मूर्ति भी उकेरी गयी है। इन सारे पुरातथ्यों की वस्तुनिष्ठ समीक्षा की जानी चाहिए।

सील को जब हम तफसीलबार या विस्तार में देखते हैं तब इसमें हमें सात विषय दिखायी देते हैं: (१) ऋषभदेव नग्न कायोत्सर्गरत योगी। (२) प्रणाम की मुद्रा में नतशीश भरत चक्रवर्ती। (३) त्रिशूल (४) कल्पवृक्ष पुष्पावलि (५) मदु लता (६) वृषभ (बैल) (७) पंक्तिबद्ध गणवेशधारी प्रधान आमात्य।

निश्चय ही इस तरह की संरचना का आधार पीछे से चली आती कोई सुदृढ़ सांस्कृतिक परम्परा ही हो सकती है। प्रचलित लोक-परम्परा के अभाव में मात्र जैनागम के अनुसार इस तरह की परिकल्पना संभव नहीं है।

इतिहास में ही हम अपने प्राचीन ऋक्थ (धरोहर) को प्रामाणिक रूप में सुरक्षित पाते हैं। इतिहास, ऐतिह्य, और आम्नाय समानार्थक

शब्द हैं ।[5] इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार इसका वाच्यार्थ है : इति ह आसीत् (निश्चय से ऐसा ही हुआ था तथा परम्परा से ऐसा ही है) । इतिहास असल में दीपक है । जिस तरह एक दीपक से हम वस्तु के यथार्थ रूप को देख पाते हैं, ठीक वैसे ही इतिहास से हमें पुरातथ्यों की निर्भ्रान्त सूचना मिलती है ।

परम्परा और इतिहास में किंचित अन्तर है । इतिहास स्थूल/ठोस तथ्यों पर आधारित होता है; परम्परा लोकमानस में उभरती और आकार ग्रहण करती है । एक पीढ़ी जिन आस्थाओं, स्वीकृतियों और प्रचलनों को आगामो पीढ़ी को सौंपती है, परम्परा उनसे बनती है । परम्पराओं का कोई सन्-संवत् नहीं होता । वैसे इस शब्द के नानार्थ हैं । एक अर्थ पुरासामग्री भी है । परम्परा अर्थात् एक सुदीर्घ अतीत से जो अविच्छिन्न चला आ रहा है वह । योगियों की भी एक अविच्छिन्न/अटूट परम्परा रही है । योगविद्या क्षत्रियों की अपनी मौलिकता है । क्षत्रियों ने ही उसे द्विजों को हस्तान्तरित किया ।[6] ऐसा लगता है कि सिन्धुघाटी के उत्खनन में प्राप्त सीलें एक सुदीर्घ परम्परा की प्रतिनिधि हैं । वे आकस्मिक नहीं हैं, अपितु एक स्थापित सत्य को प्रकट करती हैं ।

भारतीय इतिहास, संस्कृति, और साहित्य ने इस तथ्य को पुष्ट किया है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता जैन सभ्यता थी ।[7] सिन्धुघाटी के संस्कार जैन संस्कार थे । इससे यह उपपत्ति बनती है कि सिन्धुघाटी में प्राप्त योगमूर्ति, ऋग्वैदिक वर्णन, तथा भागवत, विष्णु आदि पुराणों में ऋषभदेव की कथा आदि इस तथ्य के साक्ष्य हैं कि जैन धर्म प्राग्वैदिक ही नहीं वरन् सिन्धुघाटी सभ्यता से भी कहीं अधिक प्राचीन हैं ।

श्री नीलकण्ठदास साहू के शब्दों में : 'जैन धर्म संसार का मूल अध्यात्म धर्म है । इस देश में वैदिक धर्म के आने से बहुत पहले से ही यहाँ जैन धर्म प्रचलित था । खूब संभव है कि प्राग्वैदिकों में शायद द्रविड़ों में यह धर्म था ।[8]

कुछ ऐसे शब्द है, जो जैन परम्परा में रूढ़ बन गए हैं । डा. मंगलदेव शास्त्री का कथन है कि 'वातरशन' शब्द जैन मुनि के अर्थ में रूढ़ हो

गया था। उनकी मान्यता है कि 'श्रमण' शब्द की भाँति ही 'वातरशन' शब्द मुनि-सम्प्रदाय के लिए प्रयुक्त था। मुनि-परम्परा के प्राग्वैदिक होने में दो मत नहीं हैं।[9]

डा. वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय इतिहास/वाङ्मय के जाने-माने विद्वान रहे हैं। उन्होंने भी स्वीकार किया है कि भारत का नाम ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर ही भारतवर्ष हुआ। इससे पहले भ्रान्तिवश उन्होंने दुष्यन्त-पुत्र भरत के कारण इसे भारत अभिहित किया था।[10]

जैनों का इतिहास बहुत प्राचीन है। भगवान महावीर से पूर्व तेईस और जैन तीर्थंकर हुए हैं, जिनमें सर्वप्रथम हैं ऋषभनाथ। सर्वप्रथम होने का कारण ही उन्हें आदिनाथ भी कहा जाता है। जैन कला में उनकी जो मुद्रा अंकित है वह एक गहन तपश्चर्यारत महायोगी की है। भागवत में ऋषभनाथ का विस्तृत जीवन-वर्णन है।[11]

जैन दर्शन के अनुसार यह जगत् अनादिनिधन है अर्थात् इसका न कोई ओर है और न छोर। यह रूपान्तरित होता है; किन्तु अपने मूल में यह यथावत् रहता है। युग बदलते हैं; किन्तु वस्तु-स्वरूप नहीं बदलता। द्रव्य नित्य है। उसका रूपान्तरण संभव है; किन्तु ध्रौव्य असंदिग्ध है।

आज जो युग चल रहा है वह कर्मयुग है। माना जाता है कि यह युग करोड़ों वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था। उस समय भगवान ऋषभनाथ युग-प्रधान थे। असि (रक्षा), मसि (व्यापार), कृषि (खेती) और अध्यात्म (आत्मविद्या) की शिक्षा उन्होंने दी। उन्होंने प्रजाजनों को, जो कर्मपथ से अनभिज्ञ थे; बीज, चक्र, अंक और अक्षर दिये। कर्मयुग की यह परम्परा तब से अविच्छिन्न चली आ रही है।

ऋषभनृप दीर्घकाल तक शासन करते रहे। उन्होंने उन कठिन दिनों में जनता को सुशिक्षित किया और उनकी बाधाओं, व्यवधानों और दुविधाओं का अन्त किया। अन्त में आत्मशुद्धि के निमित्त उन्होंने श्रमणत्व ग्रहण कर लिया और दुर्द्धर तपश्चर्या में निमग्न हो गये। स्वयं द्वारा स्थापित परम्पराओं और प्रवर्तनों के अनुसार उन्होंने ज्येष्ठ

पुत्र भरत को अपना संपूर्ण राजपाट सौंपा और परिग्रह को जड़मूल से छोड़ कर वे वैराग्योन्मुख हो गये; फलतः वे परम ज्ञाता-द्रष्टा बने। उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों को जीत लिया, अतः वे 'जिन' कहलाए। 'जिन' की व्युत्पत्ति है : **जयति इति जिनः** (जो स्वयं को जीतता है, वह जिन है)।

कैवल्य-प्राप्ति के बाद उन्होंने जनता को अध्यात्म का उपदेश दिया और बताया कि आत्मोपलब्धि के उपाय क्या हैं ? चूँकि उनका उपनाम जिन था अतः उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म जैन धर्म कहलाया। इस तरह जैन धर्म विश्व का सर्वप्रथम धर्म बना।

भगवान ऋषभनाथ का वर्णन वेदों में नाना संदर्भों में मिलता है। कई मन्त्रों में उनका नाम आया है। मोहन-जो-दड़ो (सिन्धुघाटी) में पाँच हजार वर्ष पूर्व के जो पुरावशेष मिले हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म हजारों साल पुराना है। मिट्टी की जो सीलें वहाँ मिली हैं, उनमें ऋषभनाथ की नग्न योगिमूर्ति है। उन्हें कायोत्सर्ग मुद्रा में उकेरा गया है। उनकी इस दिगम्बर खड्गासनी मुद्रा के साथ उनका चिह्न बैल भी किसी-न-किसी रूप में अंकित हुआ है। इन सारे तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि जैनों का अस्तित्व मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता से अधिक प्राचीन है।

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अगस्त १९३२ के 'माडर्न रिव्ह्यू' में कायोत्सर्ग मुद्रा के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है। उन्होंने इस मुद्रा को जैनों की विशिष्ट ध्यान-मुद्रा कहा है और माना है कि जैन धर्म प्राग्वैदिक है, उसका सिन्धुघाटी की सभ्यता पर व्यापक प्रभाव था।

मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में उपलब्ध मृण्मुद्राओं (सीलों) में योगियों की जो ध्यानस्थ मुद्राएँ हैं, वे जैन धर्म की प्राचीनता को सिद्ध करती हैं। वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमणों[12] की परम्परा का होना भी जैनों के प्राग्वैदिक होने को प्रमाणित करता है। व्रात्य का अर्थ महाव्रती है। इस शब्द का वाच्यार्थ है : 'वह व्यक्ति जिसने स्वेच्छया आत्मानुशासन को स्वीकार किया है'। इस अनुमान की भी स्पष्ट पुष्टि हुई है कि ऋषभ प्रवर्तित परम्परा, जो आगे चल कर शिव में जा मिली, वेदचर्चित होने

के साथ ही वेदपूर्व भी है।[13] जिस तरह मोहन-जो-दड़ो में प्राप्त सीलों की कायोत्सर्ग मुद्रा आकस्मिक नहीं है, उसी तरह वेद-वर्णित ऋषभ नाम भी आकस्मिक नहीं है, वह भी एक सुदीर्घ परम्परा का द्योतक है, विकास है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में जिन अतीन्द्रियदर्शी वातरशन मुनियों की चर्चा है, वे जैन मुनि ही हैं।

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अपने लेख में जिस सील का वर्णन दिया है, उसमें अंकित/उत्कीर्णित ऋषभ-मूर्ति को ऋषभ मूर्तियों का पुरखा कहा जा सकता है। ध्यानस्थ ऋषभनाथ, त्रिशूल, कल्पवृक्ष-पुष्पावलि, वृषभ, मदु लता, भरत और सात मंत्री आदि महत्वपूर्ण तथ्य हैं। जैन वाङ्मय से इन तथ्यों की पुष्टि होती है।[14] इतिहासवेत्ता श्री राधाकुमुद मुखर्जी ने भी इस तथ्य को माना है।[15] मथुरा-संग्रहालय में भी ऋषभ की इसी तरह की मूर्ति सुरक्षित है।[16] पी. सी. राय ने माना है कि मगध में पाषाणयुग के बाद कृषि-युग का प्रवर्तन ऋषभयुग में हुआ।[17]

श्री चन्दा ने जिस सील का विस्तृत विवरण दिया है, वह परम्परा जैन साहित्य में आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षित है। आचार्य वीरसेन (धवला के रचनाकार)[18], विमलसूरि-रचित प्राकृत ग्रन्थ 'पउमचरिय'[19] एवं जिनसेनकृत 'आदिपुराण'[20] की कारिकाओं/गाथाओं में जो वर्णन मिलते हैं उनमें तथा उक्त सील में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव देखा जा सकता है। इन वर्णनों के सूक्ष्मतर अध्ययन से पता चलता है कि इस तरह की कोई मुद्रा अवश्य ही व्यापक प्रचलन में रही होगी क्योंकि मोहन-जो-दड़ो की सील में अंकित आकृतियों तथा जैन साहित्य में उपलब्ध वर्णनों का यह साम्य आकस्मिक नहीं हो सकता। निश्चय ही यह एक अविच्छिन्न परम्परा की ठोस परिणति है। यदि हम पूर्वोक्त ग्रन्थों के विवरणों को सील के विवरणों से समन्वित करें तो संपूर्ण स्थिति की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार संभव है :

पुरुदेव (ऋषभदेव) नग्न खड्गासन
कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित हैं
उनके शीर्षोपरि भाग पर त्रिशूल अभिमण्डित है
यह रत्नत्रय की शिल्पाकृति है

कोमल दिव्यध्वनि के प्रतीक रूप एक लता-पर्ण मुखमण्डल के पास सुशोभित है[21]
दो ऊध्वर्ग कल्पवृक्ष-शाखाएँ हैं पुष्प-फलयुक्त,
महायोगी उससे परिवेष्टित हैं
यह भक्ति-प्राप्य फल की द्योतक है
चक्रवर्ती भरत भगवान के चरणों में अंजलिबद्ध प्रणाम-मुद्रा में नतशीश है[22]
भरत के पीछे वृषभ है, जो भगवान ऋषभनाथ का चिह्न (लांछन) हैं
अधोभाग में हैं अपने राजकीय गणवेश में सात मन्त्री
जिनके पदनाम हैं-
माण्डलिक राजा, ग्रामाधिपति, जनपद-अधिकारी, दुर्गाधिकारी (गृहमंत्री), भण्डारी (कृषिवित्त मंत्री), षडंग बलाधिकारी (रक्षा-मंत्री), मित्र (परराष्ट्र मंत्री) ।

मोहन-जो-दड़ो की मुद्राओं में उत्कीर्णित इन तथ्यों का स्थूल भाष्य संभव नहीं है; क्योंकि परम्पराओं और लोकानुभवों को छोड़ कर यदि हम इन सीलों की व्याख्या करते हैं तो यह व्याख्या न तो यथार्थपरक होगी और न ही वैज्ञानिक। जब तक हम इस तथ्य को ठीक से आत्मसात् नहीं करेंगे कि मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता पर योगियों की आत्मविद्या की स्पष्ट प्रतिच्छाया है, तब तक इन ग्रन्थों के साथ न्याय कर पाना संभव नहीं होगा; अतः इतिहासविदों और पुरातत्त्ववेत्ताओं को चाहिए कि वे प्राप्त तथ्यों को परवर्ती साहित्य की छाया में देखें/खोजें और तब कोई निष्कर्ष लें । वास्तव में इसी तरह के तुलनात्मक और व्यापक, वस्तुनिष्ठ और गहन विश्लेषण से ही यह संभव हो पायेगा कि हमारे सामने कोई वस्तुस्थिति आये ।

अब हम उन प्रतीकों की चर्चा करेंगे, जो मोहन-जो-दड़ो के अवशेषों में मिले हैं और जैन साहित्य में भी जिनका उपयोग हुआ है। यहाँ तक कि इनमें से कुछ प्रतीक तो आज तक जैन जीवन में प्रतिष्ठित हैं ।

सब में पहले हम 'स्वस्तिक' को लेते हैं। सिन्धुघाटी से प्राप्त कुछ सीलों में स्वस्तिक (साँथिया) भी उपलब्ध है।[23] इससे यह निष्कर्ष प्राप्त

होता है कि सिन्धुघाटी के लोकजीवन में स्वस्तिक एक मांगलिक प्रतीक था। साँथिया जैनों में व्यापक रूप में पूज्य और प्रचलित है। इसे जैन ग्रन्थों, जैन मंदिरों, और जैन ध्वजाओं पर अंकित देखा जा सकता है। व्यापारियों में इसका व्यापक प्रचलन है। दीपावली पर जब नये खाते-बहियों का आरंभ किया जाता है, तब साँथिया माँड़ा जाता है।

स्वस्तिक जैन जीव-सिद्धान्त का भी प्रतीक है। इसे चतुर्गति का सूचक माना गया है। जीव की चार गतियाँ वर्णित हैं : नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव। स्वस्तिक के शिरोभाग पर तीन बिन्दु रखे जाते हैं, जो रत्नत्रय के प्रतीक हैं। इन तीन बिन्दुओं के ऊपर एक चन्द्रबिन्दु होता है जो क्रमशः लोकाग्र और निर्वाण का परिचालक है। 'स्वस्ति' का एक अर्थ कल्याण भी है।

'त्रिशूल' दूसरा महत्वपूर्ण प्रतीक है, जो सिन्धुघाटी की सीलों पर तो अंकित है ही, जैन ग्रन्थों में भी जिसकी चर्चा मिलती है। त्रिशूल आज भी लोकजीवन में कुछ शैव साधुओं द्वारा रखा जाता है। जैन परम्परा में त्रिशूल को रत्नत्रय का प्रतिनिधि माना गया है। त्रिरत्न हैं: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। इसकी चर्चा 'धवला'[24], 'आदिपुराण'[25], 'पुरूदेव चम्पू'[26] में मिलती है। त्रिशूल को जैनों का 'जैत्र' अस्त्र कहा गया है।

तीसरा है कल्पवृक्ष। यह कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी ऋषभमूर्ति के परिवेष्टन के रूप में उत्कीर्णित है। 'आदिपुराण' तथा 'संगीत समय सार' में इसके विवरण मिलते हैं।[27]

अर्हद्दास ने मृदु लतालंकृत मुखः कह कर मृदुलता-पल्लव का आधार उपलब्ध करा दिया है।[28]

भरत चक्रवर्ती श्रद्धाभक्तिपूर्वक ऋषभमूर्ति के सम्मुख अंजलि बाँधे नमन-मुद्रा में उपस्थित हैं। आचार्य जिनसेन, विमलसूरि आदि ने भरत की इस मुद्रा का तथा उनके द्वारा ऋषभार्चन का वर्णन किया है।[29] तुलनात्मक अध्ययन और व्यापक अनुसंधान से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मोहन-जो-दड़ो की सील पर जो रूपक अंकित है वह जन-जीवन के लिए सुपरिचित, प्रौढ़, प्रचलित रूपक है अन्यथा वह

वहाँ से छन कर कवि-परम्परा में इस तरह क्यों कर स्थापित होता ?

एक तथ्य और ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मणों को अध्यात्मविद्या क्षत्रियों से पूर्व प्राप्त नहीं थी । उन्हें यह क्षत्रियों से मिली, जिसका वे ठीक से पल्लवन नहीं कर पाये । 'छान्दोग्य उपनिषद्' में इसकी झलक मिलती है ।[30]

जैन धर्म आत्मस्वातन्त्रयमूलक धर्म है । उसने न सिर्फ मनुष्य बल्कि प्राणिमात्र की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है । जीव तो स्वाधीन है ही, यहाँ तक कि परमाणु-मात्र भी स्वाधीन है । कुल ६ द्रव्य हैं । प्रत्येक स्वाधीन है । कोई किसी पर निर्भर नहीं है । न कोई द्रव्य किसी की सत्ता में हस्तक्षेप करता है, और न ही होने देता है । वस्तुतः लोकस्वरूप ही ऐसा है कि यहाँ संपूर्ण यातायात अत्यन्त स्वाधीन चलता है । जैनों का कर्मसिद्धान्त भी इसी स्वातन्त्रय पर आधारित है । श्री जुगमन्दरलाल जैनी ने आत्मस्वातन्त्रय के इस सिद्धान्त को बहुत ही सरल शब्दों में विवेचित किया है ।[31]

इस भ्रम को भी हमें दूर कर लेना चाहिए कि जैन और बौद्ध धर्म समकालीन प्रवर्तन हैं । वास्तविकता यह है कि बौद्धधर्म जैन धर्म का परवर्ती है । स्वयं गौतम बुद्ध ने आरंभ में जैन धर्म को स्वीकार किया था; किन्तु वे उसकी कठोरताओं का पालन नहीं कर सके, अत मध्यम मार्ग की ओर चले आये ।[32] इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्धधर्म भले ही वेदों के खिलाफ रहा हो, किन्तु जैन धर्म जो प्राग्वैदिक है कभी किसी धर्म के विरूद्ध नहीं उठा, या प्रवर्तित हुआ । उसका अपना स्वतन्त्र विकास है । संपूर्ण जैन वाङ्मय में कही किसी का विरोध नहीं है । जैन धर्म समन्वयमूलक धर्म-है, विवादमूलक नहीं—उसके इस व्यक्तित्व से भी उसके प्राचीन होने का तथ्य पुष्ट होता है ।

यहाँ श्री पी. आर. देशमुख के ग्रन्थ 'इंडस सिविलाइजेशन एंड हिन्दू कल्चर' के कुछ निष्कर्षों की भी चर्चा करेंगे । श्री देशमुख ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'जैनों के पहले तीर्थंकर सिन्धु सभ्यता से ही थे । सिन्धुजनों के देव नग्न होते थे । जैन लोगों ने उस सभ्यता/संस्कृति को बनाये रखा और नग्न तीर्थंकरों की पूजा की ।'[33]

इसी तरह उन्होंने सिन्धुघाटी की भाषिक संरचना का भी उल्लेख किया है। लिखा है : 'सिन्धुजनों की भाषा प्राकृत थी। प्राकृत जन-सामान्य की भाषा है। जैनों और हिन्दुओं में भारी भाषिक भेद है। जैनों के समस्त प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ प्राकृत में हैं; विशेषतया अर्द्धमागधी में; जबकि हिन्दुओं के समस्त ग्रन्थ संस्कृत में हैं। प्राकृत भाषा के प्रयोग से भी यह सिद्ध होता है कि जैन प्राग्वैदिक हैं और उनका सिन्धुघाटी सभ्यता से सम्बन्ध था।[34]

उनका यह भी निष्कर्ष है कि जैन कथा-साहित्य में वाणिज्यिक कथाएँ अधिक हैं। उनकी वहाँ भरमार है, जबकि हिन्दूग्रन्थों में इस तरह की कथाओं का अभाव है। सिन्धुघाटी की सभ्यता में एक वाणिज्यिक कॉमनवेल्थ (राष्ट्रकुल) का अनुमान लगता है। तथ्यों के विश्लेषण से पता लगता है कि जैनों का व्यापार समुद्र-पार तक फैला हुआ था। उनकी हुंडियाँ चलती/सिकरती थीं। व्यापारिक दृष्टि से वे मोड़ी लिपि का उपयोग करते थे। यदि लिपि-बोध के बाद कुछ तथ्य सामने आये तो हम जान पायेंगे कि किस तरह जैनों ने पाँच सहस्त्र पूर्व एक सुविकसित व्यापार-तन्त्र का विकास कर लिया था।[35]

---

१. सिंध फाइव थाउजेंड इअर्स एगो; रामप्रसाद चन्दा; 'मॉडर्न रिव्ह्यू', कलकत्ता; अगस्त १९३२ (दे परि.)।
२. अतीत का अनावरण; आचार्य तुलसी, मुनि नथमल; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १९६९; पृ. १६।
३. पद्मचन्द्र कोश, पृ. ४९५; ऋषभदेव (पु.) १ ऋष + अभक् = जाना, दिव = अच् (संपूर्ण विद्याओं में पार जाने वाला एक मुनि); २. जैनों का पहिला तीर्थंकर।
४. मार्कण्डेय पुराण : सांस्कृतिक अध्ययन; डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल; पृ. २२-२४.
५. आदिपुराण १/२५; आचार्य जिनसेन।
६. प्रतिष्ठातिलक १८/१; नेमिचन्द्र।
७. भारतीय दर्शन, पृ. ९३; वाचस्पति गैरोला।
८. उड़ीसा में जैनधर्म; डॉ लक्ष्मीनारायण साहू; श्री अखिल जैन मिशन, एटा; ग्र. प्र., उ; १९४९.
९. 'नवनीत' हिन्दी मासिक, बम्बई; डॉ. मंगलदेव शास्त्री; जून १९७४; पृ.६१.
१०. दे. टि. क. ४.

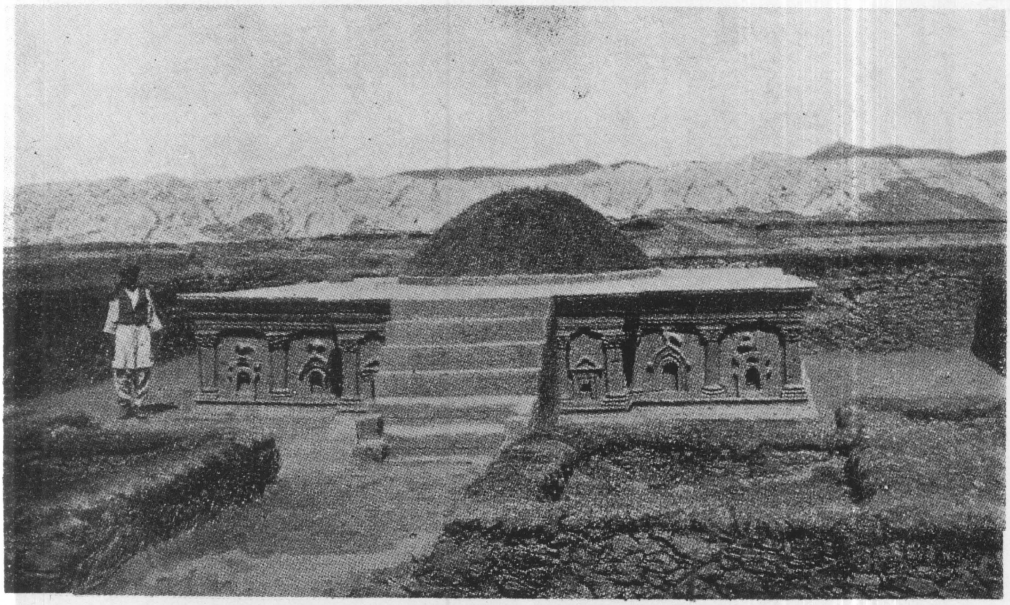

The Shrine of the double-headed Eagle, Sirkap, Taxilla (1)

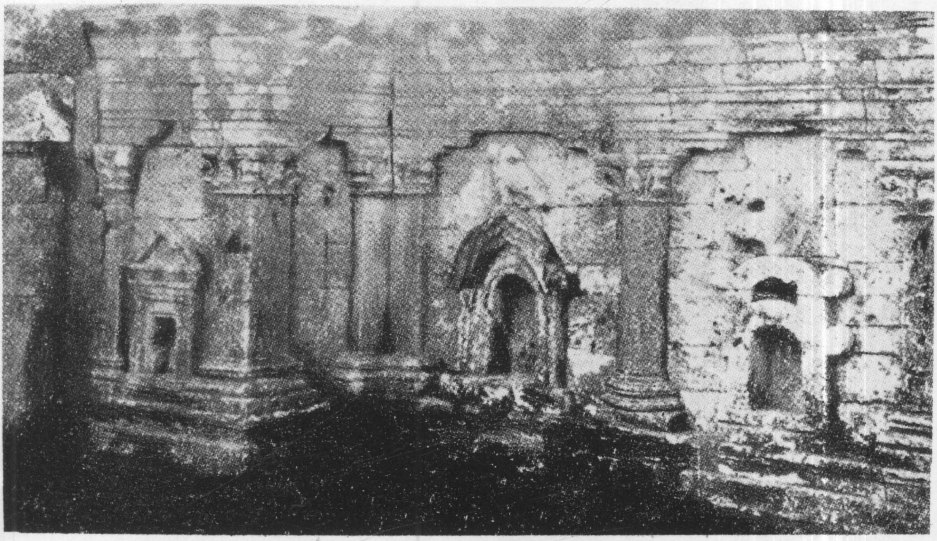

The Shrine of the double-headed Eagle, (close view) (2)

Olmec figures recalling the dedication of the kayotsarg. La Venta, Veracruz, Mexico. (3)

Aminiature turreted temple carved in deite The Central pavilion with openings on four side recalls the symbolic plan of the Jaina gandhakuti of the caumukh. The region of Mezcala river in Guerrero, Mexico. (4)

११. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका; पं. कैलाशचन्द शास्त्री; भूमिका-डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल; पृ.८.
१२. भारतीय दर्शन; वाचस्पति गैरोला; पृ.९३.
१३. संस्कृति के चार अध्याय; रामधारीसिंह दिनकर; पृ.३९.
१४. आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव; डॉ. कामताप्रसाद जैन; पृ.१३८.
१५. --वही-- ; पृ.२३।
१६. जैनिज्म इन बिहार; पी. सी. राय चौधरी; पृ.७.
१७. छक्खंडा-मंगलायरण, १.१.२४ आचार्य वीरसेन, (तिरयण तिसअल धारिय)।
१८. पउमचरियं, विमलसूरि, ४.६८-६९.
१९. आदिपुराण, आचार्य जिनसेन २४/७३-७४.
२०. पुरूदेवचम्पूप्रबन्ध १/१, श्रीमद् अर्हद्दास (दिव्यर्ध्यान मृदुलतालंकृतमुखः).
२१. पउमचरियं, विमलसूरि, ४/६८-६९ ।
२२. भारत में संस्कृति एवं धर्म, डॉ. एम.एल. शर्मा, पृ.१९ ।
२३. दे.टि.क. १८ ।
२४. आदिपुराण, आचार्य जिनसेन १/४; (रत्नत्रयं जैन जैत्रमस्त्रं जयत्यदः) ।
२५. पुरूदेवचम्पूप्रबन्ध, श्रीमदर्हद्दास ५; (रत्नत्रयं राजति जैत्रमस्त्रं) ।
२६. आदिपुराण, आचार्य जिनसेन, १५/३६, संगीत समयसार, आचार्य पार्श्वदेव ६/९६ ।
२७. दे.टि.क. २१ ।
२८. आदिपुराण, २४/७७-७९, आचार्य जिनसेन, पज्ञमचरियं ४/६८-६९, विमलसूरि ।
२९. छान्दोग्य उपनिषद्, शांकर भाष्य ५/७ ।
३०. आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म, जुगमंदरलाल जैन, पृ.३४४ ।
३१. मज्झिमनिकाय (पालि) १२ महासिहनाद सुत्तं, पृ.९०४ ।
३२. इंडस सिविलाइजेशन, ऋग्वेद एंड हिन्दू कल्चर, पी. आर. देशमुख, पृ.३६४।
३३. --वही-- ; पृ.३६७ ।
३४. --वही-- ; पृ.३६५ ।

ऋषभनाथ की तीर्थयात्रा : ब्राह्मण या वैदिक परम्परा से श्रमण-परम्परा तक

डा. श्री रंजन सूरिदेव

तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव मूलतः वैदिक परम्परा के प्रतिष्ठित प्रागैतिहासिक शलाकापुरूष हैं। उनकी तीर्थयात्रा की पदचाप ब्राह्मण-परम्परा से श्रमण-परम्परा तक समभाव से अनुगुंजित है। जैन परम्परा ऋषभदेव से ही अपने धर्म का उद्‌भव मानती है। वैदिक साहित्य के तहत ऋग्वेद में जिस ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है, वही जैन धर्म के ऋषभनाथ हैं। ऋषभदेव ब्राह्मण-धर्म और श्रमण-धर्म के समन्वय-बिन्दु के रूप में लोकादृत तीर्थपुरूष हैं।

प्राच्य वाङ्मय में 'आर्हत' और 'बार्हत्' शब्द दो सांस्कृतिक या धार्मिक परम्पराओं के लिए उपलब्ध होते हैं। 'आर्हत्' अर्हत् के उपासक थे और 'बार्हत्' वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानों के आराधक थे। 'बृहती' वेद का वाचक है। बृहती के उपासक ही 'बार्हत' हैं। बार्हत वैदिक यज्ञकार्य को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। आर्हतों और बार्हतों अथवा श्रमण-परम्परा और ब्राह्मण-परम्परा के बीच किसी प्रकार की ऐतिहासिक विभाजक रेखा खींचना निश्चित तौर पर सम्भव नहीं है। दोनों ही परम्पराएँ समानान्तर विकसित हैं।

'अर्हत्' शब्द के समानान्तर 'अर्ह' और 'अर्हणा' शब्द ऋग्वेद में मिलते हैं, जो पूज्य और श्रेष्ठ अर्थ के वाचक हैं। जैसे :

नृचक्षसो अनिमिषन्तो 'अर्हणा' बृहद्देवासो अमृत्वमामशुः।

(ऋक् १०.६३.४)

यहाँ 'अर्हणा' शब्द पूजा या सम्मान का द्योतक है। शाब्दिक अर्थ है– पूज्य। इसी प्रकार ऋग्वेद का एक मन्त्रांश है :

यद्‌यों 'अर्हाद्', द्युमद् विभाति क्रतुमद् जनेषु। (२.२३.१५)

यहाँ भी 'अर्ह' शब्द योग्य और आदरणीय या पूज्य अर्थ का ही वाचक है ।

पुनः 'ऋषभ' या 'वृषभ' शब्द का भी ऋग्वेद में भूरिशः उल्लेख पाया जाता है, जिसका अर्थ बल-वीर्य से सम्पन्न देवता है । एक मन्त्र इस प्रकार है :

यः सप्तरश्मिभिर्वृषभस्तुविष्मान्
अवासृजत् सत्तेवे सिन्धून् । (२.१२.१२)

यहाँ 'वृषभ' का अर्थ मेघ की शक्ति को रोकने वाला श्रेष्ठ देवता है । पुनः दूसरा मन्त्र है :

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति । (४.५८.३)

यहाँ 'वृषभ' शब्द का अर्थ सुख बरसाने वाला है ।

ऋग्वेद के ही अंगभूत तैत्तिरीय आरण्यक में 'ऋषभ' शब्द का महाबलशाली के अर्थ में स्पष्ट उल्लेख हुआ है : 'ऋषभं वाजिनं' वयं पूर्णमासं यजामहे ।' (३.७.५.१३) अर्थात् महाबलशाली, वेगवान् पूर्णमास की हम पूजा करते हैं ।

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में भी 'ऋषभ' शब्द का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है : **'वैश्वानरं' बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु ।'** (१२.१.६) यहाँ विश्वम्भरा वसुमती पृथ्वी को 'ऋषभ' कहा गया है ।

इस प्रकार, ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में पूज्यात्मा सूचक अर्ह (= अर्हत्) तथा 'ऋषभ' (बलशाली देवता) के उल्लेख से अनुमान होता है कि आर्हतों और बार्हतों के समन्वय की प्रक्रिया ऋग्वेद से ही प्रारम्भ हो गई थी, जिसका पूर्णतम विकास महाभारत-काल या उपनिषद्-काल में परिलक्षित होता है । 'वृषभ' और 'ऋषभ' शब्द यद्यपि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं तथापि उनका केन्द्रीय भाव बलशाली देवता ही है । कहीं उनका वर्णन बैल, साँड़ (**'वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरूवता'**–ऋक्. १०.८६.१५), (**'बृहन्तं चिद्दहते रन्धयानि वयद्वत्सो वृषभं शूशुवानः ।'**– तत्रैव १०.२८.९.), मेध (**'अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरूवत् ।'**–ऋक्. १०.७५.३), और अग्नि

के रूप में हुआ है, तो कई जगह कामनाओं की पूर्त्ति या कामनाओं की वर्षा करने वाले के अर्थ में । ऋषभ ही रूद्र हैं और परमात्मा भी । ब्राह्मणों के शिव ही श्रमणों के ऋषभ हैं ।

ज्ञातव्य है कि जैनागमों में ऋषभदेव को धर्म का आदिप्रवर्त्तक कहा गया है, तो श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव के अवतार के रहस्य या अभिप्राय के सन्दर्भ में बताया गया है कि उनके आविर्भाव का उद्देश्य वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म का विवेचन करना था । इस सन्दर्भ का मूल रूप इस प्रकार है :

"इति निशामयन्त्या मेरूदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान् । बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरूदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणा-मूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार ।" (५.३.१९.२०)

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को भगवान् माना गया है और उनकी प्रार्थना में सादर यह श्लोक कहा गया है :

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ।
लोकस्य यः करूणयाभयमात्मलोकमाख्यत्रभो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥
(५.७.१९)

अर्थात, निरन्तर विषयभोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगों को जिन्होंने करूणावश निर्भय आत्मलोक का उपदेश किया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति के कारण सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है ।

इससे स्पष्ट है कि श्रमण और ब्राह्मण दोनों परम्पराओं में विशुद्धचरित ऋषभदेव का समान आदर था । दोनों परम्पराओं ने उन्हें पूज्य माना है । ऋषभदेव जैनों के आदि तीर्थंकर हैं तो वैदिकों के लिए साक्षात् विष्णु के अवतार हैं । 'अर्ह' या 'अर्हत्' का एक अर्थ विष्णु भी है (देखें आप्टे कोश) । शिवपुराण के अनुसार अट्ठाईस योगावतारों में ऋषभदेव की भी गणना हुई है । 'श्रीमद्भागवत' के ही अनुसार ऋषभदेव ने पश्चिमी भारत (ब्रह्मावर्त्त) में आर्हत धर्म का प्रचार किया था । वह

महान् योगेश्वर थे। एक बार इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य (अजनाभखण्ड) में अवृष्टि की स्थिति उत्पन्न कर दी, किन्तु उन्होंने योगबल से वृष्टि करा दी (५.४.४)। उन्होंने अपने शरीर का त्याग योगियों को देहत्याग की विधि सिखाने के लिए ही किया था। ("अथैवमखिल लोकपाललला-मोऽपि विलक्षणेर्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरवि-लक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासु-रात्मन्यात्मान-मसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानुवृत्तिरूपरराम।" –तत्रैव, ५.६.६.)[1]।

'श्रीमद्भागवत' के उल्लेखानुसार भगवान ऋषभदेव का अवतार रजोगुण से लिप्त लोगों को मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिए ही हुआ था : अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षनार्थः।' (५.६.१२) इस प्रसंग से और फिर भागवत में वर्णित ऋषभदेव की अन्य विशेषताओं से 'तत्त्वार्थसूत्र' का यह मंगल श्लोक तुलनीय है :

मोक्षमार्गस्यनेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

ऋषभदेव ने अपने नाम की सार्थकता के बारे में स्वयं कहा है :

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद् अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः॥
(५.५.१९)

अर्थात्, मेरे इस अवतार-शरीर का रहस्य साधारण जनों के लिए बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को बहुत दूर पीछे ढकेल दिया है, इसी बलशालिता के कारण सत्पुरूष मुझे 'ऋषभ' कहते हैं।

श्रीमद्भागवत के अनुसार ऋषभदेव आत्मतत्त्व की जिज्ञासा (**'पराभव स्तवदबोधजातो'** : ५.५.५) तथा अध्यात्मशास्त्र के अनुशीलन (**'अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया'** : ५.५.१२) को सर्वाधिक मूल्य देते थे; किन्तु परवर्तीकाल के आर्हतों ने अवतारवाद और ईश्वरतत्त्व का अवमूल्यन कर दिया। वे अवश्य ही अर्हतों के उपासक थे, आत्मा को

ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाली अध्यात्मवादी परम्परा को स्वीकारते थे, पर अवतार या ईश्वर को मूल्य न-देने पर भी श्रमणों और ब्राह्मणों का आत्मतत्त्वमूलक केन्द्रीय भाव एक ही था ।

'ऋषभ' शब्द की तरह 'वातरशना' का भी उल्लेख ऋग्वेद में आता है :

मुनियो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मलाः ।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मदिता मौनेयेन बाताँ आ तस्थिमा वयम् ।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्ता सो अभि पश्यथ ॥
(१०.१३६.२-३)

अर्थात्, अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं या वे मलिन प्रकाश वाले हैं । इसी कारण वे पिंगलवर्ण हैं । जब वे प्राणोपासना द्वारा वायु की गति धारण करते हैं, तब प्राणायामरूप तप की महिमा से दीप्त देवत्व को प्राप्त कर लेते हैं ।

सब प्रकार के लोक-व्यवहार का त्याग कर हम मौनवृत्ति से या मननशील अन्तःकरण से अतिशय हर्षित होते हैं और वायु पर आधृत हो जाते हैं, यानी देहाभिमान से मुक्त ध्यानवृत्ति में स्थित हो जाते हैं। फलतः तुम साधारण मनुष्य हमारे केवल बाह्य शरीर मान को ही देख पाते हो, सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं (ऐसा वातरशना मुनि कहते हैं)[2] ।

ऋग्वेद में वर्णित वातरशना मुनि वे ही हैं, जिन्हें भागवत के अनुसार ऋषभदेव ने उपदेश किया था । भागवत में यह भी उल्लेख हे कि अपने पुत्र भरत को राज्याभिषिक्त करने के बाद स्वयं ऋषभदेव भी वातरशना मुनि की भाँति अवधूत हो गये थे :

"...भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरित शरीरमात्र परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्त्तात्प्रवव्राज । जडान्धमूकब धिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णों बभूव ।" (५.५.२८२९)

इस प्रकार, ऋग्वेद में संकेतित वातरशना मुनियों के उपदेशक ऋषभदेव स्वयं भी वातरशना मुनियों के प्रमुख प्रमाणित होते हैं। साथ ही, ऋग्वेदवर्णित वातरशना मुनियों के लक्षण भागवत के ऋषभदेव में भी परिलक्षित होते हैं।

ऋग्वेद के उक्त सूत्रों में ही 'केशी' की स्तुति उपलब्ध होती है। यह 'केशी' भी कोई नहीं, वरन् ऋषभदेव ही हैं। मन्त्र इस प्रकार है:

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरूच्यते॥
(१०.१३६.१)

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग (आकाश) और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त जगत् को व्यापकता के साथ दृष्टिगत कराता है। केशी ही प्रकाशमान (ज्ञानमय) ज्योति (केवलज्ञानी) है।

वातरशना मुनि से सम्बद्ध इस सूक्त में कुल सात मन्त्र हैं, जिनमें छठा और सातवाँ मन्त्र भी केशी की स्तुति से ही सम्बद्ध हैं। ऋग्वेदोक्त केशी देवता ऋषभदेव का ही पर्याय है।

ऋषभदेव का केशी विशेषण इस अर्थ में सार्थक है कि उनके केश बड़े खूबसूरत और घुँघराले हैं। उनका रूप सौन्दर्य कामदेव के भी दर्प को चूर करने वाला था। भागवत में उपलब्ध उनके नखशिख का वर्णन सौन्दर्यशास्त्रियों के अध्ययन का उपजीव्य बन सकता है: "अति सुकुमार-करचरणो-रःस्थलविपुलबाह्वंसगलवदनाद्यवयवविन्यासः प्रकृतिसुन्दरस्व-भावहाससुमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरतारारूणायतनरूचिरः सदृशसुभगकपोल कर्णकण्टनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुखनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिश-केशभूरिभारो... ।" (५.६.३१)

अर्थात् ऋषभदेव के हाथ-पैर, छाती, लम्बी-लम्बी बाहें, कन्धे, गले और मुख आदि अंगों की बनावट बड़ी सुकुमार थी; उनका स्वभावतः सुन्दर मुख स्वाभाविक मधुर मुस्कान से और भी मनोहर जान पड़ता था; नेत्र नवीन कमलदल के समान बड़े सुहावने, विशाल और कुछ लाली लिये हुये थे, जिनकी पुतलियाँ शीतल और सन्तापहारिणी थीं।

अपने सुभग नेत्रों के कारण वे बड़े रूप-मनोरम प्रतीत होते थे। उनके कपोल, कान और नासिका आकृत्या समान और सुन्दर थे। उनके अस्फुट हास्य-रंजित मनोहारी मुखारविन्द की शोभा देखकर पुरनारियों के चित्त में कामदेव का संचार हो आता था। उनके मनोज्ञ मुख के आगे भूरे रंग की लम्बी-लम्बी घुँघराली लटें लटकी रहती थीं...।"

भगवान् ऋषभदेव के कुंचित केशों की परम्परा ऋग्वेद में, वातरशना मुनियों के वर्णन के क्रम में, 'केशी' नाम में प्राप्त होती है और फिर यही वर्णन-परम्परा ('कुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारो') 'श्रीमद्भागवत' में भी मिलती है। जैन परम्परा में ऋषभदेव की मूर्त्तियों के सिरों पर कुंचित-केशों की अंकन-प्रथा प्राचीनकाल से चली आई है, जो आज भी कायम है। यह ऋषभदेव का विशेष अभिज्ञान है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं। ऋषभदेव को 'केसरियानाथ' भी कहते हैं। सिंह भी अपने केशों या केसरों के कारण ही केसरी कहलता है। शब्दसाम्य के कारण केसरियानाथ पर केसर चढ़ाने की प्रथा अवश्य चल पड़ी हो, परन्तु ऋषभदेव का 'केसरियानाथ' नाम उनके कुंचित केशभार के कारण प्रचलित होना अधिक युक्तिसंगत है। 'वसुदेवहिण्डी' के वर्णनानुसार ऋषभस्वामी के केश दक्षिणावर्त्त, यानी दाई ओर से घुँघराले और काले थे, जिससे उनका सिर छत्र के समान सुशोभित था : 'उसभसामी पत्तजोव्वणो य छत्तसरिससिरो, पयाहिणावत्त कसिणसिरोओ।' (द्र. इन पंक्तियों के लेखक द्वारा अनूदित-सम्पादित संस्करण, १९८९ ई., पृ. ४९७)।

कई विद्वान् वेदों का रचनाकाल ईसा से पाँच हजार वर्ष या इससे भी अधिक पूर्व मानते हैं, किन्तु इतिहासवेत्तओं का एक ऐसा भी वर्ग है, जो वेदों की रचना ईसा से सिर्फ १५०० वर्ष पहले की बताते हैं। इससे स्पष्ट है ऋषभदेव इससे भी प्राचीन हैं, तभी तो वेदों में उनका उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार जैन धर्म या जैन विषयक सन्दर्भ ऋग्वेदकालीन ही नहीं, ऋग्वेद-पूर्ववर्ती हैं।

उक्त साक्ष्य-सन्दर्भों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनियों और भागवत के वातरशना श्रमण ऋषियों में सहज समानान्तरता है।

इनके ही अधिनायक ऋषभदेव का जैन साहित्य में और श्रीमद्भागवत में एक जैसा ही वर्णन मिलता है । इससे यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि जैन परम्परा की तरह जैनेतर परम्परा में भी ऋषभदेव की मान्यता थी और उनकी पूजा-प्रार्थना या आराधना-उपासना दोनों परम्पराओं में समान भाव से प्रचलित थी । इस प्रकार यह सिद्ध है कि समस्त आर्य जाति में समान रूप से ऋषभदेव की न्यूनाधिक मान्यता अति प्राचीनकाल से ही विद्यमान रही है । इससे इस धारणा को भी बल मिलता है कि ऋषभ समग्र आर्य प्रजा के अर्हणीय दैव हैं, साथ ही वह ब्राह्मण और श्रमण, दोनों संस्कृतियों के समन्वय के साधक हैं ।

---

1. ऋषभदेव के दिव्य-चरित के अनुशीलन के लिए 'श्रीमद्भागवत' के पंचम स्कन्ध के अध्याय तीन से छह द्रष्टव्य हैं ।
2. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य :- महावीर : व्यक्तित्व, उपदेश और आचारमार्ग : ऋषभदास राँका, प्र. भारत जैन महामण्डल, बम्बई, पृ. १२-१३ ।

'उड़ीसा में जैन धर्म' की भूमिका

नीलकंठदास

लक्ष्मीनारायण बाबू ने जैन धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह समग्र अत्यन्त उपादेय होने पर भी उन्होंने जैन धर्म के सम्बन्ध में जो विचार और आलोचना की है उससे जैन धर्म सम्बन्धी समस्त बातें ठीक से ज्ञात नहीं हो संकती। केवल उड़ीसा राज्य या भारत में ही क्यों, प्राचीन सभ्य मानव समाज में जैन धर्म की प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि बहुत थी। उसके संकेत और उदाहरण आज भी मिलते हैं। भारत में इस धर्म की प्रतिष्ठा, प्रभाव और प्रसिद्धि आज भी समस्त प्रचलित धर्मों में बहुत प्रतिष्ठित और प्रचलित है। वास्तव में यह प्रतिष्ठा नाना कारणों से पहले आँखों के सामने नहीं आ सकी अथवा क्रिश्चियन धर्म या इस्लाम धर्म आदि के प्रचार की तरह इसका वैसा प्रचार नहीं हो सका।

आज भी जैन नाम से एक धर्म भारत में है

विश्व में और कहीं जैन धर्म इस समय एक स्वतन्त्र धर्म के रूप में नहीं है, यह बात सत्य है किन्तु भारत में आज भी है। वर्तमान भारत में जैन धर्म नाम से जो धर्म है वह भी फिर बहुत अंशों में आदान-प्रदान के कारण दूसरे धर्मो की तरह हो गया है। इसलिए उसमें भी जैन धर्म का स्वरूप लक्ष्मीनारायण बाबू ने जैसा कहा है, वैसा स्पष्ट देखना सरल नहीं है। तथापि भारत में आज भी जैन धर्म चिरस्थायी होकर रहा है, ऐसा कहा जा सकता है। विशेषकर उड़ीसा में प्राचीन कलिंग युग से इस धर्म ने मुख्य रूप से अपना प्रभाव विस्तृत करके रखा था उसके उदाहरण अनेक हैं। आज भी उसके संकेत जगन्नाथ में खोजे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म नाम से जो धर्म है, वह भी जैन धर्म से आज से प्रायः २५०० वर्ष के आसपास निकला था। इस सम्बन्ध में विशेष आलोचना करने की अपेक्षा है। क्योंकि इसे

समझने में आज तक पाश्चात्य तथा भारतीय प्राच्य पुरातत्त्व-वेत्ताओं में बहुत भ्रम रहा हुआ है। खारवेल आदि के सम्बन्ध में भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि वे और उनका धर्म और उनके हजारों वर्षों के बाद का धर्म जैन नाम से कथित होने पर भी वह विशुद्ध जैन धर्म नहीं हो सकता। ऐसा प्रतीत होता है, उस समय बौद्ध धर्म के प्रभाव से वह काफी प्रभावित हो गया था। उड़ीसा में जैन धर्म नाम से एक धर्म प्रमुख रूप से चल रहा था, लेकिन सम्भवतः वह बौद्ध धर्म के हीनयान के साथ एक हो गया था। ह्वेनसांग के समय के विवरण से और बुद्धदत्त की सिंहल परम्परा से यह ज्ञात होता है।

ह्वेनसांग के समय का विवरण

ह्वेनसांग के समय बौद्ध धर्म से चीनी तथा तद्विद् विद्वान् लोग महायान को ही बौद्ध धर्म समझते थे। पूर्व भारत का वज्रयान सम्भवतः उस समय सर्वत्र फैल चुका था। इसलिए बौद्ध धर्म से निग्रहानुग्रह समर्थ भगवान बुद्ध का धर्म अथवा शून्यवादी घोर वामाचारियों का आचार समझते थे। उस समय जो वास्तविक और मौलिक बौद्ध धर्म था वह हीनयान बौद्ध धर्म में मिश्रित हो गया था। प्राचीन जैनों में से सम्भवतः अनेक हीनयान बौद्ध रूप में जाने जा रहे थे। लगता है, उड़ीसा के तत्कालीन हीनयानी, जिन्हें अपने धर्म का स्पष्टीकरण देने के लिए हर्षवर्धन के साथ लड़ना पड़ा था, वे और कोई नहीं, जैन थे।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म

बहुत दुःख की बात है कि उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपिय पुरातत्व विद्वान् इस बात को बहुत भ्रान्त समझकर भारत के लिए तथा समग्र विश्व के लिए एक गलत परम्परा का निर्माण कर गए हैं। यह बराबर सुनने में आता है कि पूर्व भारत में बुद्ध नाम का एक व्यक्ति वैदिक यागयज्ञ और जाति-भेद के विरोध में जनता के सामने आया था। इस सम्बन्ध में आलोचना का मार्ग भी उसी ढंग से खुला था। इस सम्बन्ध में उस समय लोग यही जान रहे थे कि जैन धर्म भी उसी बौद्ध धर्म से निकला है। जर्मन विद्वान् हर्मन जेकोबी और अनेक दूसरे विद्वान

इस धारणा का निरसन करने में सफल हुए। उन्होंने कहा कि जैन धर्म पहले से था तथापि बौद्ध धर्म की तरह यह धर्म भी वैदिक धर्म का विरोधी था, किन्तु यह धारणा नितान्त भूल-भरी है । पंडित लक्ष्मीनारायण ने भी पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में विचार करते समय और पार्श्वनाथ की साधना के प्रति संकेत कर उसकी आलोचना करते समय जैन धर्म की प्राचीनता तथा परम्परा विषयक बहुत सूचनाएँ दीं । वस्तुतः जैन धर्म विश्व में मूल अध्यात्म धर्म है। बौद्ध धर्म के आगमन के बहुत पहले से जैन धर्म इस देश में था। बहुत सम्भव है यह प्राक् वैदिकों और द्रविड़ों के भीतर था। बाद में इस धर्म ने साधना में एक ओर संभोगेच्छा का नाश करने के लिए कठोर साधना का मार्ग और दूसरी ओर उसी संभोग स्पृहा को ध्वंस करने के लिए अतिसंभोग में डूबकर–निरत होकर उसे छोड़ने का मार्ग निकाला था। शाक्यमुनि बुद्ध इन दोनों के मध्यमार्गी जैन धर्म के अन्तिम संस्कारक थे। बुद्ध ने स्वयं कहा है कि वे होते हैं एक जिन ।

शाक्य मुनि इतने महान् कैसे हुए ?

शाक्य मुनि की लोकप्रियता का कारण यह मध्यम मार्ग था। यह भी कहा जा सकता है कि उनके संस्कृत जैनत्व की छाप 'गीता' पर भी पड़ी है। गीता में लिखा है–

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ॥६॥ १७

"जो जितना आवश्यक है उतना ही भोजन करता है, विहार करता है, आवश्यक है उतना ही कर्म में प्ररित होता है, जितना आवश्यक है उतना ही सोता है और जागता है, योग उसी व्यक्ति का दुःखहरण करता है।" इसमें जहां एक ओर कठोर साधना और कर्म में अतिनिष्ठा का निषेध होता है तो दूसरी ओर भोग की यथेच्छाचारिता और अति स्वतन्त्रता का निषेध भी है। मुनि का यही जैन धर्म या बौद्ध धर्म है। महामहिम सम्राट अशोक ने सिर्फ इसी बौद्ध धर्म के नाम से संस्कृत जैन धर्म को स्वीकार किया था। उन्होंने तत्कालीन समस्त सभ्य जगत् में एक दिन इसी धर्म का प्रचार कर अहिंसा का उद्घोष सुनाया था और उसका महत्व सामने रखा था। अतः बौद्ध

धर्म का नाम प्रबल हो उठा। लेकिन ई॰ प्रथम शताब्दी के पहले से इस अध्यात्म-आत्मोपासक संस्कृत जैन धर्म या बौद्ध धर्म में भक्ति धर्म पूर्णतया प्रविष्ट हो गया था। उसी का नाम महायान है। इससे पहले जो बौद्ध धर्म था उसे हीनयान बौद्ध धर्म कहा गया है। महायान के पूर्व के जो जैन थे वे बहुतकर इसी हीनयान नाम से अभिहित हो रहे थे।

उसका स्पष्ट उदाहरण पुरी का जगन्नाथ

जगन्नाथ जैन शब्द है। ऋषभनाथ के साथ इसकी समानता है। ऋषभनाथ का अर्थ है–सूर्यनाथ या जगत् का जीवन-रूपी पुरूष। ऋषभ यानी सूर्य होता है। यह प्राचीन बैवीलोन का आविष्कार है। प्रो॰ सई ने अपनी Hibbert Lectures (1878) में स्पष्ट कहा है कि इसी सूर्य को वासन्त विषुबत् में देखने से लोगों ने समझा कि हल जोतने का समय हो गया है। वे बृषभ बैलों से हल जोतते थे। इसीलिए कहा जाता है कि बृषभ का समय हो गया है। आकाश में बृषभ राशि के आरंम्भ का वही स्थान है। इस दृष्टि से लोकभाषा में सूर्य का नाम ऋषभ या बृषभ हो गया। उससे पूर्व 'सूर्य' जगत् का जीवन है यह धारणा लोगों में बद्धमूल हो गई थी। अति प्राचीन वैदिक मंत्र में भी कहा है– 'सूर्य आत्मा जगत् स्तस्थुषश्च'। (ऋग्वेद १-११५-१) सूर्य जगत् का आत्मा या जीवन है। बैवीलोन के निकट जो तत्कालीन प्राचीन मिट्टानी राज्य था वहाँ से यह बात पीछे आयी थी। उस समय मिट्टानी राष्ट्र के राजा (ई॰ पू॰ चौदहवीं शताब्दी) दशरथ थे। उनकी बहन और पुत्री दोनों का विवाह मिस्त्र सम्राट के साथ हुआ था। उन्हीं के प्रभाव से प्रभावित होकर चतुर्थ आमान हेटय् या आकनेटन् ने आटेन (आत्मान्) नाम से इस सूर्य धर्म का प्रचार किया था। और यह 'सूर्य या जगत् का आत्मा ही परम पुरूष या पुरूषोत्तम है' ऐसा प्रचार कर एक प्रकार से धर्म में पागल होकर समस्त साम्राज्य को भी शर्त पर लगाने का इतिहास में प्रमाण है। बहुत सम्भव है कि कलिंग में द्रविड़ों के भीतर से ये जगन्नाथ प्रकट हुए हों। मिस्त्रीय पुरूषोत्तम तथा पुरी के पुरूषोत्तम ये दोनों इसी जैन धर्म के परिणाम हैं।

दाठावंश (दन्त का इतिहास)

सिंहल में 'दाठावंश' नाम का एक प्राचीन ग्रंथ है। यह पुरी में रहे हुए बुद्ध दांत का इतिहास है। इसमें लिखा है कि बुद्ध की चिता भस्म से संग्रहीत बाएं तरफ की दाढ़ के पास के दांत को शिष्यों ने क्षेम के हाथों कलिंग राजा ब्रह्मदत्त के पास भिजवा दिया था। बौद्ध साहित्य में ब्रह्मदत्त का नाम साधारण राजा के रूप में मिलता है। इस समय वाराणसी आदि देशों में भी राजाओं के नाम ब्रह्मदत्त थे। फिर क्या कारण है कि बुद्ध की चिता भस्म से संग्रहीत किए गए स्मारकों में इस बाएं दाढ़ के पास के दांत के सम्बन्ध में कोई बात उत्तर भारत तथा चीन आदि देशों में नहीं हैं। सिंहल में इस सम्बन्ध की एक विराट् परम्परा है। 'दाठावंश' में लिखा है कि ब्रह्मदत्त ने इस दांत की प्रतिष्ठा बहुत आदर के साथ कलिंग में की थी। उत्तर भारत या मगध राजा पांडु ने इस पर बड़े प्रयत्नपूर्वक अधिकार किया था। किन्तु दांत की अद्भुत शक्ति के कारण वे उसे ध्वंस करने में अक्षम रहे और अन्त में इसके भक्त बन गए। इसी बीच क्षीरधर नाम के राजा ने इसके लिए पांडु राजा पर आक्रमण किया था। वे युद्ध में मारे गए। अन्त में राज्य त्यागकर भिक्षु होने के समय स्वयं पांडु राजा ने कलिंग राजा गुहशिव के हाथों पुनः कलिंग में भिजवा दिया था। गुहशिव स्वयं भी इस दांत के लिए क्षीरधर के भतीजे द्वारा दन्तपुर में बन्दी हो गए थे। उज्जयिनी के राजकुमार ने आकर कलिंग राजा की पुत्री हेममाला के साथ विवाह कर लिया। गुहशिव ने उन दोनों को दांत का भार सौंप दिया। इसलिए इन दोनों का नाम दन्तकुमार और दन्तकुमारी पड़ गया। दांत को लेकर दोनों जहाज में बैठ सिंहल चले गए। गणना की दृष्टि से यह दांत ई. ३११ में सिंहल पहुंचा था। सिंहल में प्राप्त एक शिलालेख से भी यह ज्ञात होता है।

उसके बाद भी इस दांत का बहुत बड़ा इतिहास रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह दांत अनेक स्थानों में गया है। कलिंग से सिंहल, सिंहल से ब्रह्मदेश, उसके पश्चात् रोमन कैथोलिक मिशनरियों के हाथों में और वहाँ से गोआ में मिशनरियों द्वारा कठोर वस्तु पर टुकड़े कर इसे ध्वंस कर समुद्र में फेंक दिया गया। किन्तु फिर भी व्यक्ति कहते हैं कि

असली दांत को हमने छिपाकर रखा है। जहाँ जाता है वहाँ कृत्रिम दांत जाता है और जो ले जाते हैं वे भी सदा केवल कृत्रिम दांत को, असली को नहीं। इसलिए लोगों का आज भी विश्वास है कि असली दांत कलिंग या पुरी में विद्यमान है। यह जगन्नाथ के पेट में ब्रह्म रूप में है। वस्तुतः वर्तमान पुरी जगन्नाथ के चार प्रकार हैं– सुदर्शन को छोड़ देने पर भी जगन्नाथ, बड़े ठाकुर और सुभद्रा इन तीन मूर्तियों के पेट में दांत तीन भागों में विभक्त होकर ब्रह्म रूप में रहा है। अथवा उसका क्या हुआ है ? निश्चय रूप से इस सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं कहते। खैर, जो कुछ भी हों किन्तु इस बात से इतना पता चलना है कि दक्षिण भारत में इस सिंहल दांत की गल्प सम्भवतः एक समय बुद्ध दांत की बात नहीं थी। कलिंग में जैनों के जिस 'जिनासन' का उल्लेख हाथीगुफा शिलालेख में हुआ है उसी का यह बौद्ध संस्करण रूप है। जगन्नाथ परम्परा मूलतः सम्पूर्ण जैन है। नाथ शब्द भी पूर्णतया जैन उदाहरण है। संस्कृत में नाथ शब्द का अर्थ है– जिनसे याचना की जाती है। सम्भवतः सबसे पहले 'उपास्य' आत्मा रूपी पुरूष इसी अर्थ में यह प्रयुक्त था। उत्तरवर्ती काल में क्रमशः भक्ति धर्म के सहयोग से इसका यह अर्थ स्वीकृत हो गया।

जैन धर्म अध्यात्म धर्म है

जैन धर्म के संबंध में जानने से पहले धर्म के संबंध में समझना आवश्यक है। विश्व में धर्म के दो प्रकार हैं– भक्ति धर्म और आध्यात्म धर्म। भक्ति धर्म एक प्रकार से मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। लोग पहले अधिक शक्तिशाली व्यक्तियों की भक्ति करते थे। इसी से धीरे धीरे साम्राज्य का अस्तित्व प्रकाश में आया। क्रमशः राजा और सम्राटों के अत्याचार बढ़ने लगे जिससे 'ऐकश्वरवाद' का एक सम्मानित संस्कार धीरे-धीरे प्रकाश में आया। इसे लेकर विश्व में जो विवाद, द्वन्द्व और नरहत्याओं की सृष्टि हुई है, उसे प्रकट करने से आज सिर्फ धर्म-ध्वजी मनुष्यों की मतान्धता और असहिष्णुता का परिचय मिलेगा, इसलिए यहाँ उसे देने की आवश्यकता नहीं है, यह अनुमानगम्य है। इसी तरह एक दिन असुर देश के असुर देव का उद्‌भव हो गया था। एक ओर वे होते हैं अत्याचार के प्रतीक और दूसरी ओर एकेश्वरवाद

के प्रतीक। लोग पैदा कर असुरों के सम्राट असुर देवको 'कर' के रूप में प्राय: सब कुछ दे देते थे। न देने पर उनके साथ बर्बरतापूर्णव्यवहार किया जाता था। यथा– नारी और बच्चों को यथेच्छ काटकर, मारकर फेक देते थे और प्रमुख व्यक्तियों की जीवित दशा में चमड़ी उतार लेते थे।

जो उनके विरोध में बातें करते थे उनके पीछे जासूस लगाकर उन्हें पकड़कर लाया जाता था और उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार करते थे। असुर देश के निकट बैवीलोन के प्रधान देव मर्दुक थे। असुरों के इस अत्याचार को वे भी सहन नहीं करते थे और सभ्यतर तथा संयत असुर भी उनके आचरण से संतुष्ट नहीं थे। इन दोनों का आपस में बहुत लम्बे समय तक भयंकर विवाद चलता रहा। बाद में एक पारसी मिड्स आर्य जरथ्रुष्ट ने (हलदिया औट) कहा, असुर और मर्दुक दो दो ईश्वर नहीं हैं। ईश्वर होते हैं एक। वे हैं– असुर मर्दुक या अहुरमेज्दा। अहुरमेज्दा का यह एकेश्वरवाद परसिया से लेकर भूमध्यसागर तक २०० वर्षों से अधिक समय में फैल गया था। जिउ या यहूदी इस राज्य में आकर बन्दी हो गए थे। कुछ समय के बाद उन्हें मुक्त कर दिया गया था। उनका जातीय देवता था 'जिउहे'। यहूदी स्वयं अपने देवता को प्रिय कहकर बहुत अभिमान करते थे। अपने को बड़ा देव-भक्त मानते थे। बाद में अहुरमेज्दा को अपने देवता 'जिहोवा' के अन्तर्गत मान लिया और कहा– ईश्वर विश्व का एक है। इसी से यीशुखीष्ट, मुहम्मद और उससे आगे चल कर पुत्र, दूत और अवतार आदि प्रकाश में आये थे। परिणामस्वरूप विश्व में आज धर्म की मतान्धता और प्रतिक्रिया फैल रही है।

इस धर्म की प्रतिक्रिया

इस प्रकार के अत्याचारों के विरोध में लोगों का सिर उठाना और आत्मत्याग करना अस्वाभाविक नहीं था। लोगों ने सोचा– संभोग-स्पृहा या तृष्णा का त्याग कर देने पर ऐसे राजा-सम्राटों की अधीनता के त्रास से मुक्ति मिल जायेगी। इस विचारधारा के विद्रोही व्यक्ति जन-समाज को छोड़कर, तृष्णा त्याग कर वन में चले गए। वहाँ स्त्रोतों का पानी पीकर, फल-फूल खाकर, पशु-पक्षियों के साथ आराम से

रहने लगे । उनकी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला यह प्राचीन श्लोक है–

स्वच्छन्द-वन-जातेन शाकेनापि प्रपूर्यते ।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत् ॥

स्वतन्त्र वन में उत्पन्न होने वाले फल-भाजी के द्वारा यदि पेट की ज्वाला शांत हो सकती है तो उसके लिए इतने बड़े पाप की क्या आवश्यकता है ? उदर-पूर्ति से यहाँ अभिप्राय है भोग या वासना की पूर्ति । ऐसे ही लोक आत्मस्थ या अपने भीतर जो आत्मा–पुरूष है उसकी उपासना करने लगे । इसलिए इनका धर्म अध्यात्म धर्म कहलाया । यह अध्यात्म धर्म ही जैन धर्म है । इसी जैन धर्म के सम्बन्ध में प्रसिद्ध जैन विद्वान् जगमन्दरलाल जैन ने कहा है– "जैन धर्म ने मनुष्य को पूर्ण स्वातंत्र्य दिया है । यह दूसरे किसी धर्म में नहीं है । हम जो कर्म करते हैं और उस कर्म का जो फल मिलता है, इन दोनों के बीच में कोई तीसरी चीज नहीं है । एक बार कर्म कर लेने पर वे कर्म ही हमारे नियन्ता बनते हैं । उनका फल निश्चित रूप से मिलता है । मेरी स्वतन्त्रता जिस प्रकार मूल्यवान है उसी प्रकार मेरा दायित्व भी उसके साथ समान मूल्यवान है । मैं जैसा चाहूँ वैसा ही जीवन-यापन कर सकता हूँ । किन्तु एक बार पथ का चुनाव कर लेने पर फिर परिवर्तन करने का उपाय नहीं है । मैंने जो कर्म किये हैं उनको फिर मैं अन्यथा नहीं कर सकता । यही नीति जैन धर्म को दूसरे धर्मों– क्रिश्चियन धर्म, मुसलमान धर्म और हिन्दू धर्म से पृथक करती है । कोई ईश्वर या उसका अवतार अथवा स्थलाभिषिक्त तथा प्रिय (पुत्र या पैगम्बर) मनुष्य के जीवन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता । आत्मा जो कुछ करता है उसके लिए केवल वही निश्चित रूप से उत्तरदायी है ।"

Jainism more than any other creed gives absolute religious independence and freedom to man. Nothing can intervene between the actions which we do and the fruits there of once done, they became our masters and must fructify. As my independence is greet, so my responsibility is co-extensive with it. I can live as I like, but my choice is irrevocable and I cannot escape the consequences of it. This

principal distinguishes Jainism from other religions e.g. Christianity, Mohammedanism, Hinduism. No God or his prophet or deputy or beloved can interfere with human life. The soul and it alone is directly and necessarily responsible for all that it does. (Outlines of Jainism, pp. 3-4.)

इयावाणी और ऋष्यश्रृंग

बैबीलोन के प्राचीन इरेक राज्य का इयावाणी और भारतीय अंग देश के ऋष्यश्रृंग का उपाख्यान इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। इन दोनों ही उपाख्यानों में विद्रोह का जो मूल है वह जैनत्व की ओर संकेत करता है। तृष्णा, त्याग और इन्द्रिय-संयम के द्वारा इनकी दैविक, आध्यात्मिक और शारीरिक शक्ति प्रकट हुई थी। यह बात इन उपाख्यानों से स्पष्ट होती है। ये दोनों वन में थे। फल-फूल आदि खाते थे, झरनों का पानी पीते थे और पशु-पक्षियों के साथ रहते थे। स्थानीय राजाओं ने इन्हें शहर में लाने के लिए सुन्दरी को भेजा। उसके प्रलोभन से ये साधनाच्युत हो गए। उनके साथ शहर में आए, ऐसा गल्प में वर्णन है। दोनों ने असाध्य कार्य किए थे। भारतीय ऋष्यश्रृंग उपाख्यान इयावाणी (कुछ-कुछ इसे एंकिडो पढ़ते हैं) गल्प के साथ समान होनेपर भी ऋष्यश्रृंग गल्प प्राचीन परम्परागत हैं; किन्तु इयावाणी गल्प का उल्लेख बहुत प्राचीन लेखों से मिलता है। गणना की दृष्टि से यह आज से लगभग पाँच हजार वर्ष से अधिक समय पूर्व की बात है। यह तत्कालीन सुमेर देश के इरेक राज्य की घटना है।

थेर पुत्र

शाक्य मुनि बुद्ध के धर्म में– बौद्ध धर्म में 'संघ' सर्वोच्च था। इन संघो में ठीक जैन साधकों की तरह लोग संघबद्ध होकर संघ में समाज रूप से रहते थे और जन-सेवा करते थे। औषध-व्यवहार और वितरण का कार्य लोक सेवा के ये दो मुख्य आधार थे। इस संघ के साधक और सिद्धों को थेर या स्थविर कहा जाता था। थेर या थेर पुत्र का अर्थ है- स्थविर या साधु। थेर पुत्र शब्द बौद्ध है। साधु शब्द जैन है। उड़ीसा का साधव शब्द इसी से निकाला है। बौद्ध धर्म के प्रचार के पश्चात ये साधु भी धीरे-धीरे देश-विदेशों में थेर पुत्र के नाम से परिचित हो गए थे। ई. पू. दूसरी या तीसरी शताब्दी के समय मिस्त्र में इन थेर पुत्रों

ने संघबद्ध होकर बहुत उदारतापूर्वक जन-सेवा में योगदान दिया था। इसके अनेक प्रमाण हैं । इनका प्रधान कार्य था यत्र-तत्र उपस्थित होकर रोगियों की सेवा करना । अंग्रेजी में Therapeutics (थेराप्युटिक्स) जिसका अर्थ है– भैषज्य विद्या; यह शब्द प्राकृत 'थेरपुत्रक' शब्द से आया है । इस बात को यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि यह ग्रीक शब्द है, और उस समय मिस्त्र से आया था ।

एसीन्स

थेर पुत्रों की तरह दलबद्ध होकर लोग यीशुखीष्ट के जन्म से पूर्व भी पालेस्टाइन के जीओ के भीतर रहते थे । उन्हें एसीन्स कहा जाता था । ये भी ठीक उन्हीं की तरह थे । किन्तु इनके सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है, कि ये लोग एक साथ मिलकर खेती करते थे। किसी की कोई निर्दिष्ट सम्पत्ति नहीं थी । सबका समान विभाग था । यह एक निश्चित जैन विधि हैं । धर्म के भोजवंशीय राजाओं ने बहुत समय के बाद भी १५९० ई. से इस नीति का अवलम्बन लिया है । पुरी के आदेश पत्रों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है । गाँव की संयुक्त व्यवस्था में देवोत्तर आदि क्षेत्रों में उसी संविभाग का संकेत आज भी उपलब्ध है । गाँव की संयुक्त व्यवस्था में बड़े-छोटे का कोई विचार नहीं था । सबका समान विभाग था । संकलित धन-राशि का बंटवारा करते समय भी सबको समान विभाग मिलता था । इस विभाग में सब समान थे, न किसी को कम और न किसी को अधिक । एसीन्स लोग विवाहित होकर गृहस्थाश्रम नहीं करते थे । पूर्णतया उनके संन्यासी होने के प्रमाण मिलते हैं । सिर्फ वंश परम्परा को रखने के लिए नये शिष्यों को स्वीकार कर दल-वृद्धि करते थे । ये और मिस्त्रीय थेर पुत्र निरामिष-भोजी थे । यह निरामिष भोजन वैदिक नहीं है, और किसी दूसरे धर्म का कार्य भी नहीं है । तृष्णा-त्याग की साधना के द्वारा इसका उद्‌भव हुआ था, इसमें संदेह नहीं ।

पाइथागोरियन्स

निरामिष भोजन की परम्परा प्राचीन ग्रीस के पाइथागोरियन्स (ई. पू. सातवीं शताब्दी के अन्त में) और अरफिको (ई. पू. सातवीं

शताब्दी के पूर्वार्ध में) में प्रचलित थी। एक बात यह भी ज्ञात होती है कि इनमें यह विचार भी था कि 'आत्मा अमर है'। कर्म के कारण आत्मा का पुनर्जन्म होता है। ये विचार जैन धर्म के सिवाय और किसी के नहीं हैं। आगे चलकर सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि मनीषी और विद्वान् इसी पाइथगोरियन्स और अरफिकी धर्म के वंशधर हुए हैं। और उसे आगे बढ़ाने में इनका श्रेय है। विशेष जानने की बात यह है कि सुकरात और प्लेटो ने आत्मा के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट अभिमत प्रकट किया है। किन्तु अरस्तू ने जो कुछ कहा है उसके दर्शन पर सांख्य के प्रकृति, पुरूष तथा जैनों के जीव-अजीव की स्पष्ट छाया पड़ी हैं। ई. पू. द्वितीय शताब्दी में इसी धर्म से ग्रीस के दूसरे स्टोइक और एपिक्यूरियन धर्म निकले थे। स्टाइक होता है जैन साधक और तपस्वी और एपिक्यूरियन इससे बिल्कुल उल्टा था। उसका आधार वास्तविकता थी।

ये सब जैन धर्म के परिणाम हैं

जैन धर्म के समस्त संकेतों पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस धर्म का प्रचार बैबीलोन से लेकर यूरोप तक बहुत अधिक विस्तृत हुआ था। ग्रीक जीवन का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है वह मूलतः दूसरे ही प्रकार का था। इसका निर्माण भिन्न आधार पर हुआ था। इसमें योग की प्रधानता थी। योग में लालसा और कामना पूर्णतया व्याप्त रहती है। मनीषी पाइथागोरस का जन्म सातवीं शताब्दी ई. पू. में हुआ था। वे होते हैं एक जैन साधक और जैन संन्यासी। उस देश और इस देश का सम्पर्क सूत्र केवल इयावाणी और ऋष्यश्रृंग के उपाख्यान से अनुमानित होता हैं, इतना ही नहीं है बहुत पहले से बैबीलोन, कापाडोसिया आदि (आजकल का इराक, तुरूष्क) पश्चिम देश और भारत के द्रविड़ दोनों का परस्पर में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। अनुमान होता है, दोनों एक ही जाति के लोग थे।

देवी धर्म

देवी धर्म उसका मुख्य प्रमाण है। माँ, बोउ, अम्मा और दूसरे मातृवाचक शब्द द्रविड़ में व्यवहृत होते हैं। उड़ीसा में आज भी 'माँ' को 'बोउ' कहते हैं। बहुत बाद में फिर माँ शब्द संस्कृत में लक्ष्मीवाचक

भी बन गया । यह संस्कृत शब्द मातृ शब्द के साथ समान नहीं है । 'बोउ' शब्द उड़ीसा के सिवाय आसाम में भी आज प्रचलित है । किन्तु मातृदेवी के अर्थ में ये शब्द उस समय (ई. पू. प्रायः तीन हजार वर्ष के समय) समस्त पश्चिमी राज्यों में बहुत साधारण थे । क्रीट द्वीप से भी सिंहवाहिनी दुर्गा की पत्थर में खोदी हुई मूर्ति अभी निकली है ।

उमा

मातृदेवी के साथ शिव का आविर्भाव हुआ था । उसकी व्याख्या बहुत स्वाभाविक और सहजगम्य है । महायोनि और महालिंग विश्व-प्रजनन उत्पत्ति के प्रतीक होते हैं । पश्चिमी जगत् में उस समय इसी भावना से मातृदेवी की पूजा होती थी । भारत में ई. पू. दो हजार वर्ष के बाद लिंग उपासना के प्रचलित होने का प्रमाण मोहनजोदाड़ो से मिलता है किन्तु यह लिंग इस देश में दर्शन का प्रतीक था । मातृदेवी ने भी 'उमा' नाम से हैमवती देवी के रूप में देवताओं को ब्रह्मविद्या का प्रशिक्षण दिया था, जिसका उल्लेख केनोपनिषद् के तृतीय खंड में है । लगता है, अम्मा नाम इसी उमा शब्द में परिणत हो गया था, और हैमवती अर्थात् 'हिमालय कन्या' या हिमालय से प्रकटित होने वाली 'देवी' हो गई ।

सेमिरामिस

इसी मातृदेवी के सम्पर्क से ई. पू. प्रायः १५०० से २००० वर्ष पूर्व बैबीलोन के उत्तर में सटा हुआ असुर देश था, उसकी रानी सेमिरामिस थी । उसका उपाख्यान बड़ा अद्भुत है । देवी की प्रजनन परायणता और तद्विध क्रिया से यह पूर्ण है । लगता है यह कोई साधारण स्मृति पर से फूटकर आने वाला एक पुराण है । कुछ भी हो, उसमें कहा है कि देवी एक कन्या को जन्म देकर उसे वन में फेंक वह चली गयी । अनेक कपोत पक्षियों ने आकर उसकी सुरक्षा की और उसे जीवित रखा । एक चरवाहे ने उसे देखा और उठा कर अपने घर ले गया, उसका पालन-पोषण किया ।

वह बहुत सुन्दरी और बुद्धिमती थी । गल्प में कहा है कि बैबीलोन में इस्तरदेवी की तरह वह भी केवल एक के बाद दूसरे एक

से विवाह करती और उसे मारकर फिर दूसरे को स्वीकार कर लेती। इस सम्बन्ध में वहां की परम्परा आज भी इतनी पुष्ट और प्रतिष्ठित है कि लोग उस क्षेत्र में बड़े-बड़े पहाड़ों को दिखाकर कहते हैं कि यहां पर सेमिरामिस के पति गाड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त सेमिरामिस महापराक्रमशालिनी थी। कहना है कि वह भारत को जीतने के लिए पंजाब में आयी थी। एक मात्र उसकी हार वहीं हुई। वह पराजित होकर वापस गयी थी।

शकुन्तला

शकुन्तला देवी या स्वर्ग वैश्या द्वारा परित्यक्त सद्योजात संतान थी। वन में पक्षियों ने उसे सुरक्षित रखा था। कण्व ऋषि उस बच्ची को अपने आश्रम में ले गए और उसका पालन-पोषण किया था। बाद में वही लड़की राजा दुष्यन्त (जो अनेक स्त्रियों से परिवृत थे) को देख कर काम-विह्वल हो गई थी। दुष्यन्त के सामने उसने आत्म-समर्पण किया था। फलस्वरूप वह गर्भिणी हो गई थी। सेमिरामिस की घटना के साथ इन सबकी बहुत आलोचना की जा सकती है। किन्तु यह सब कुछ होने पर भी भारतीय उपाख्यान में सतीत्व के आदर्श को प्रस्फुटित किया गया है, प्रभेद सिर्फ इतना ही है। अन्यथा शकुन्तला के पुत्र प्रबल प्रतापी सम्राट् 'भरत' के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष संभव नहीं था।*

द्राविड़ से रोम तक सब एक था

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्राविड़ से लेकर ग्रीस-रोम तक समस्त क्षेत्र प्राचीनकाल में एक समय मिला-जुला एक समान था। इनके आदान-प्रदान में कोई अन्तराय या अवरोध नहीं था। जैन धर्म ने इन सब स्थानों में प्राकृत धर्म को प्रभावित कर मानव जगत् को योग-संयम पाठ पढ़ाया था। हल साहब स्पष्ट कहते हैं कि द्राविड़ों का सम्बन्ध केवल बैबीलोन आदि देशों के साथ था, यही बात नहीं है। द्राविड़ लोगों ने अपना उपनिवेश प्राचीन सुमेर राज्य में जाकर किया था। इसके सिवाय दूसरे विद्वानों का भी कहना है कि जिन लोगों ने सुमेर में उपनिवेश बनाया था, वे आये थे कश्मीर की उत्तर पामीर पहाड़ी मैदान (पठार) के पश्चिम में स्थित प्रदेश से। चैकोस्लाविया

की प्राग् नगरी के अध्यापक पूर्वीय पुरातत्त्ववेत्ता ह्वोजनी साहब ने Ancient History of Western Asia, India and Crete नामक बहुत उपादेय और गवेषणापूर्ण एक ग्रन्थ लिखा है । उसमें उन्होंने सिद्ध किया है कि आर्यगण कैस्पियन झील के पश्चिम तट से चलकर यूरोप, एशिया के अनेक स्थानों में व्याप्त होने के बहुत पहले से दूसरी एक सभ्य जाति इसी कैस्पियन झील के दक्षिण तट से चलकर इधर भारत, उधर बैबीलोन आदि प्रदेशों में फैली थी । इनका सम्पर्क और आदान-प्रदान उस समय बड़ा घनिष्ठ था ।

वर्तमान काल में जाना जाता है कि मातृदेवी धर्म या शक्ति धर्म की तरह प्राचीन जैन धर्म मूल आध्यात्म धर्म होने पर भी उन (मातृदेवी धर्म आदि) के कार्य विशेषों में यही जैन आदर्श और साधना मार्ग प्राग् वैदिक भारत से अर्थात् उसी सभ्य जाति द्राविड़ों के भीतर से आकर विश्व में प्रसारित हुआ था । लक्ष्मीनारायण बाबू ने यह दिखलाया है कि उड़ीसा तथा भारत के आचार-व्यवहार जैन धर्म के आचार-व्यवहार से पूर्ण प्रभावित रहे हैं । खासकर इस विषय में उन्होंने तात्विक दृष्टि से विचार करते हुए जैन हरिवंश से नारद और पर्वत का उपाख्यान दिया है ।

उपरिचर वसु

यह उपाख्यान एक बहुत सार्वजनिक उपाख्यान है । नारद और पर्वत के बीच यज्ञ में व्यवहार किए जाने वाले 'अज' को लेकर विवाद छिड़ा था । पर्वत ने कहा– 'अज' शब्द का अर्थ बकरा या पशु है, इसलिए पशुवध करना अविधेय नहीं है । नारद ने कहा– यह ठीक नहीं है । 'अज' का अर्थ पुराना धान्य है, जिससे फिर उत्पन्न नहीं होता है । हिंसा-अहिंसामूलक, आमिष और निरामिष भोजन का प्रभेद यहीं से विश्रुत होता है । निरामिष भोजन करना धर्म है या सामिष भोजन करना, इस बात को भारत में समझाने की आवश्यकता नहीं है । भारत में आमिषभोजी थे, किन्तु फिर भी निरामिष भोजन सबके लिए पवित्र और धर्म-सम्मत माना गया है । महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में राजा उपरिचर वसु की घटना है । देवता और ऋषियों के बीच झगड़ा हो गया था । देवताओं ने कहा– 'अज' का अर्थ है बकरा।

ऋषियों ने कहा– नहीं, 'अज' का अर्थ है पुराना शस्य–अनाज । उपरिचर वसु (जिसे आकाश में चलने की शक्ति प्राप्त थी) उस मार्ग से जा रहे थे । दोनों पक्षों ने उन्हें मध्यस्थ स्वीकार कर लिया । उन्होंने पहले पूछ लिया था कि किसका क्या मत हैं ? इसके पश्चात् पशु-वध को सही ठहरा दिया । ऋषियों ने उपरिचर वसु के इस स्पष्ट पक्षपातपूर्ण व्यवहार को देखकर उसे शाप दे दिया । अभिशप्त दशा में नारायणीय धर्म या ऐकान्तिक धर्म की उपासना कर शाप मुक्त हुए । इस तरह यह जाना जाता हैं कि यह ऐकान्तिक धर्म– परसिया का धर्म बहुतसंभव है अहुरमेज्दा का धर्म हो । उपाख्यान में इसका प्रमाण मिलता है । वस्तुतः वही धर्म बाद में उस ओर खीष्ट धर्म और इस ओर वैष्णव धर्म के रूप में प्रकट हुआ है । खीष्ट धर्म के मूल में जैन धर्म की कठोर साधना की भांति तपस्या और संयम है । उसका कारण थेराप्युटिक और पालेस्टाइन के तत्कालीन एसीन दल है किन्तु निरामिष भोजन की उपासना आरम्भ में स्थायी होकर नहीं रही थी । इधर का यह ऐकान्तिक धर्म होता है– वैष्णव धर्म या भक्ति धर्म । इस देश में जैन धर्म के सिवाय आज भी वैष्णव लोग ही निरामिष भोजन के उपासक हैं । इस ओर अधिक स्पष्ट करने की अपेक्षा नहीं है । यह प्रभाव जैन धर्म का है । यहां केवल प्रतिपाद्य इतना ही है कि वैष्णव धर्म जैसे धर्म या सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करने वाले धर्म जैन दर्शन पर प्रतिष्ठित नहीं है और हो भी नहीं सकते । फिर भी जैन धर्म के प्रभाव को देखने में ये अत्यन्त उपादेय है । इस प्रकार विश्व के समस्त धर्म और मानवीय आत्म विकास के मूल में जैन धर्म का हाथ है । मानव समाज के विकास की प्रतिष्ठा इसी पर आधारित है, ऐसा भी कहें तो अतिरेक नहीं है ।

हिन्दी रूपान्तर : मुनि शुभकरण

* भागवत, विष्णुपुराणादि के अनुसार ऋषभपुत्र चक्रवर्ती भरत के नामानुसार इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा, शकुन्तला पुत्र के नाम से नहीं ।

– सम्पादक

विदेशों में जैन धर्म

डा. ज्योति प्रसाद जैन

जैन धर्म एक ऐसी सनातन धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है जो शुद्ध भारतीय होने के साथ ही प्रायः सर्वप्राचीन जीवंत परम्परा है । इसके उद्गम और विकासारम्भ के बीज सुदूर अतीत प्रागैतिहासिक काल में निहित है । मानवीय जीवन में कर्मयुग के प्रारम्भ के साथ ही साथ इस सरल स्वभाव आत्म-धर्म का भी आविर्भाव हुआ था । वर्तमान कल्पकाल में इसके आदि पुरस्कर्त्ता आदिपुरूष स्वयंभू प्रजापति ऋषभदेव हैं, जो चौबीस निर्ग्रन्थ श्रमण तीर्थंकरों में सर्वप्रथम हैं । इसका समय अनुमानातीत है । आधुनिक खोजों के आलोक में यही कहा जा सकता है कि तथाकथित आर्य-वैदिक सभ्यता के पूर्ववर्ती प्रागैतिहासिक सिन्धुघाटी सभ्यता के उदय से भी पूर्व ऋषभादि कई तीर्थंकर हो चुके थे । मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों में कायोत्सर्ग-स्थित वृषभलांछन द्वारा उन दिगम्बर योगीराज की उपासना प्रचलित रहने के संकेत मिले हैं । ऋग्वेदादि में भी उनके अनेक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष उल्लेख प्राप्त होते हैं । वैदिक संस्कृति के साथ इस आर्हत या श्रमण संस्कृति का दीर्घकालीन संघर्ष एवं आदान-प्रदान चला और आधुनिक शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से भारतवर्ष का इतिहास जब से भी व्यवस्थित रूप में मिलना प्रारम्भ होता है, अर्थात् रामायण तथा महाभारत में वर्णित घटनाओं के युगों से, तब से तो निरन्तर ब्राह्मण वैदिक परम्परा के साथ-साथ श्रमण जैन परम्परा का अस्तित्व इतिहाससिद्ध है । पारस्परिक संघर्ष, उत्थान-पतन, प्रचार-प्रसार का युगानुसार अल्पाधिक्य रहा । ऐसे भी समय आये जब जैन धर्म महादेश भारतवर्ष की सीमाओं का अतिक्रमण करके उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पूर्व के भारतीय प्रदेशों में भी प्रविष्ट एवं प्रसारित हुआ । स्वयं इस देश के तो प्रायः सभी भागों में प्राप्त उसके अवशेष वहाँ उसके अस्तित्व के

तथा कभी कम और अधिक प्रभाव रहने के साक्षी हैं। जैन संस्कृति ने प्राचीन भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहते हुए, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व एवं मौलिकता को भी बहुत कुछ अक्षुण्ण बनाए रखने में सफलता प्राप्त की है। साथ ही, इसने भारतीय साहित्य, कला, स्थापत्य, ज्ञान-विज्ञान को अमूल्य देनें प्रदान करके समग्र भारतीय संस्कृति को पर्याप्त समृद्ध किया है और अपने विशिष्ट आचार-विचार एवं जीवन पद्धति से भारतीय जनजीवन का उन्नयन करने में स्तुत्य योग दिया है।

प्राय: कह दिया जाता है कि जैन धर्म भारत के बाहर कभी गया ही नहीं, किन्तु यह बात सत्य नहीं है। यह अवश्य है कि तप, त्याग एवं संयम पर आधारित, निवृत्ति एवं अहिंसा प्रधान अन्तर्मुखी आत्म साधना में लीन जैन साधक का लक्ष्य ख्याति-लाभ, पूजा अथवा आत्मप्रचार या धर्मप्रचार में कभी नहीं रहा। जैन साधुचर्या के नियमों की कठोरता भी इस दिशा में बाधक रही। अतएव जैन धर्म विदेशों में बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों की भाँति कभी भी संगठित प्रयत्नपूर्वक प्रचारित नहीं हुआ। तथापि जैन धर्म के प्रकाश एवं प्रभाव ने इस महादेश की सीमाओं का अतिक्रमण किया है, इस तथ्य के संकेत भी उपलब्ध हैं।

मेजर जनरल जे॰ फर्लांग, कर्नल जेम्स टाड आदि कई प्रारम्भिक प्राच्यविदों का अनुमान है कि जैन धर्म किसी समय यूरोप के स्केण्डीनेविया जैसे दूरस्थ प्रदेशों, तुर्की तथा उत्तरी मध्य एशिया के क्षेत्रों तक पहुँचा था। चौथी शती ईसापूर्व में यूनानी सम्राट सिकन्दर महान् तक्षशिला से एक जैन सन्त को अपने साथ काबुल ले गया था, जहाँ उक्त सन्त ने सल्लेखना पूर्वक देह त्याग किया था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग भड़ोच के एक श्रमणाचार्य का महानगरी रोम में जाना और वहाँ समाधिपूर्वक चितारोहण करना पाया जाता है। दक्षिण एवं पूर्व में वृहत्तर भारत के सिंहल, बर्मा, स्याम, कम्बोज, चम्पा, श्रीविजय आदि प्रदेशों एवं द्वीपों में भारतीय संस्कृति का जो प्रसार हुआ, उसमें भी जैन व्यापारियों एवं गृहस्थ जैन विद्वानों का कुछ न कुछ योग अवश्य रहा है, ऐसा उक्त देशों के भारतीय कृत राज्यों के इतिहास तथा उनके देवायतन आदि स्मारकों के अध्ययन से ज्ञात होता है।

मध्य एशिया की फरात नदी की घाटी के ऊपरी भाग में एक भारतीय उपनिवेश ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में विद्यमान था। लगभग पांच सौ वर्ष पश्चात् पोप ग्रेगरी ने भयंकर आक्रमण करके उसे ध्वस्त कर दिया था। अनुश्रुति है कि खोतान के उक्त भारतीय उपनिवेश की स्थापना का श्रेय मौर्य सम्राट अशोक के पुत्र राजकुमार कुणाल को है। यह राजकुमार जैन धर्मावलम्बी था और इसी का पुत्र प्रसिद्ध जैन सम्राट सम्पति था। मध्य एशिया में सम्भवतया वही सर्वप्रथम भारतीय उपनिवेश था। फिर तो चौथी शती ई० के प्रारम्भ तक कश्मीर से लेकर चीन की सीमा पर्यन्त समस्त तुर्कीस्तान का प्रायः पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था। उसके दक्षिणी भाग में देश-देश (काश्मीर) चीवकुक (वारकन्द) खोतम्न (खोतान) और चलन्द (सान-सान) नाम के तथा उत्तरी भाग में भरक, कुचि, अग्निदेश और काओचंग नाम के भारतीय राज्य थे। इन सबमें उत्तर का कुचि और दक्षिण का खोतान सर्वाधिक महत्वपूर्ण और भारतीय संस्कृति के सर्वमहान प्रसार केन्द्र थे। इन उपनिवेशों की स्थापना में निर्ग्रन्थ (जैन) साधुओं और बौद्ध भिक्षुओं का ही अधिक योगदान था। कालान्तर में निर्ग्रन्थों का विहार उक्त क्षेत्रों में शिथिल होता गया और बौद्धों का सम्पर्क एवं आवागमन बढ़ता गया, अतः गुप्तकाल के उपरान्त बौद्धधर्म ही वहाँ का प्रधान धर्म हो गया, तथापि चौथी से सातवीं शती ई० पर्यन्त भारत में आनेवाले फाहियान, ह्वेनसांग, इत्सिंग आदि चीनी यात्रियों के वृत्तान्त से स्पष्ट है कि उनके समय में भी उक्त प्रदेशों में निर्ग्रन्थ मुनियों का अस्तित्व था। कुछ जैन मूर्तियाँ एवं अन्य जैन अवशेष भी वहां यत्र-तत्र प्राप्त हुए हैं। साधक के रूप में तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का विहार भी उक्त देशों में हुआ प्रतीत होता है। अनेक प्राच्यविदों एवं पुरातत्वज्ञों के मत है कि प्राचीनकाल में जैन धर्म भी इन प्रदेशों में पहुँचा था। तिब्बत, कपिशा (अफगानिस्तान), गान्धार (तक्षशिला और कंधार), ईरान, इराक, अरब, तुर्की, मध्य एशिया आदि में जैन धर्म के किसी न किसी रूप में किसी समय पहुँचने के चिह्न प्राप्त होते हैं। चीन देश के ताओ आदि प्राचीन धर्मों पर जैन धर्म का प्रभाव लक्षित है और चीन के उत्तर कालीन बौद्ध साहित्य में भी अनेक जैन सूचक संकेत मिलते

हैं। जापान के जैन सम्प्रदाय का सम्बन्ध भी कुछ लोग जैन धर्म से जोड़ते हैं। प्राचीन यूनान छेपाइये गोरस जैसे शाकाहारी आत्मधर्मी दार्शनिकों पर भी जैन प्रभाव लक्ष्य या अलक्ष्य रूप में रहा प्रतीत होता है। इसी प्रकार ईसाई मत प्रवर्त्तक ईसामसीह भी जैन विचारधारा से अवश्य प्रभावित हुए थे, ऐसा स्व० बैरिस्टर चम्पत जी ने सिद्ध किया था।

उपरोक्त अधिकांश स्थानों में जैनों की छोटी-मोटी बस्तियाँ भी मध्यकाल तक रही प्रतीत होती हैं। इधर आधुनिक युग में दक्षिण-अफ्रीका, नैरोबी आदि प्रदेशों में जैनों की अच्छी संख्या रहती आई है। पूर्व के फिजी आदि द्वीपों में भी कुछ जैन हैं। यूरोप के विभिन्न देशों में व्यापार-व्यवसाय अथवा विद्यार्जन के बहाने अनेक जैन रहते रहे हैं। यही स्थिति अमेरिका की है। वहाँ तो पिछले दो तीन दशकों में जैन प्रवासियों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है।

वर्तमान शती के प्रारम्भिक दशकों में वीरचन्द्र राघव जी गांधी, पं० लालन, बैरिस्टर जगमन्दरलाल जैनी, बैरिस्टर चम्पत राय, ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद प्रभृति विद्वानों ने विदेशों में धर्मप्रचार किया है। गत दशकों में पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर, कान्हजी स्वामी, मुनि सुशील कुमार, मूडबिद्री एवं श्रवणबेलगोल के भट्टारक द्वय प्रभृति महानुभावों ने इस कार्य को प्रगति दी है।

मथुरा के जैन साक्ष्य

डा. रमेश चन्द्र शर्मा

जैन धर्म का मथुरा से सम्बन्ध :

मथुरा नगरी भारत के धार्मिक तथा आध्यात्मिक चिंतन का केन्द्र रही है। अन्य धर्मों के साथ जैन मतावलम्बियों ने भी इसे सदा से पुनीत स्थल माना है।[1] प्राचीनतम जैन साहित्य अंग सूत्रों के ज्ञाता-सूत्र में मथुरा का उल्लेख द्रौपदी स्वयंवर के प्रसंग में हुआ है। तत्पश्चात् उपांग सूत्रों के पन्नवणा (प्रज्ञापना) सूत्र में २५ आर्य देशों में शूरसेन व मथुरा का वर्णन है। ५वीं शती के वसुदेवहिंडी प्राकृत कथा ग्रन्थ के शामाविजयलंभक में कंस का आख्यान है। महापुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के आदेश से इन्द्र ने जिन ५२ राज्यों की सृष्टि की उनमें शूरसेन राज्य भी था जिसकी राजधानी मथुरा थी।[2] जैन हरिवंश पुराण में शूरसेन राज्य को भारत के १८ महाराज्यों में बताया है। यह निशीथ व ठाणांग सूत्र में भारत की १० प्रमुख राजधानियों में है। इसे अरहंत प्रतिष्ठित, चिरकाल प्रतिष्ठित आदि उपाधियों से सम्मानित किया है।

सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ जी के जीवन की कोई घटना यहाँ घटित हुई होगी तभी उनकी स्मृति में प्राचीनतम स्तूप की रचना हुई। १४वें तीर्थंकर अनन्तनाथ की पूजा में भी एक स्तूप बनाए जाने की किंवदंती है। जिनसेनाचार्य का मत है कि २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ अथवा अरिष्टनेमी श्री कृष्ण के ताऊ समुद्र विजय के पुत्र थे। जिनका राज्य शौरिपुर-बढेश्वर जिला आगरा में था। नेमिनाथ व श्री कृष्ण सम्बन्धी अनेक घटनाओं का जैन हरिवंश पुराण में उल्लेख है। इसके साथ ही बलराम तथा श्री कृष्ण के साथ अंकित नेमिनाथ की प्राचीन मूर्तियाँ भी इस कथानक की पुष्टि करती है। परंपरा यह भी है कि २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का ब्रज भूमि से प्रत्यक्ष सम्पर्क रहा क्योंकि

सर्पफणों से आच्छादित उनकी अनेक प्रतिमाएं मथुरा के उत्खन्नों से प्राप्त हुई हैं किन्तु ऐसा सम्प्रतीत होता है कि सुपार्श्व तथा पार्श्व के ध्वनि साम्य ने कुछ भ्रांति उत्पन्न कर दी है अन्यथा पार्श्वनाथ का कार्य क्षेत्र बिहार व उत्तरप्रदेश का पूर्वी अंचल ही था। २४वें और अंतिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर ने भी ब्रज में बिहार किया था। उस समय यहाँ का राजा उदितोदय अथवा भीदाम था जिसने न केवल महावीर का स्वागत-सत्कार किया अपितु उनसे दीक्षा भी ली।[3] आवश्यक चूर्णि में उल्लेख है कि जनपद के दो राजकुमार कंवल और शंवल उनकी सेवा-सुश्रूषा करते थे। नगर के प्रसिद्ध श्रेष्ठी जिनदत्त के पुत्र अर्हद्दास को भगवान् महावीर ने दीक्षित किया। तदनुसार अन्य ब्रजवासियों का जैन धर्म की ओर झुकाव हुआ। अर्हद्दास के समय मथुरा में शरद पूर्णिमा की चांदनी में कौमुदी महोत्सव का आयोज़न होता था जिसमें नगर की समस्त स्त्रियां भाग लेती थीं।

जैन धर्म के इतिहास में मथुरा का आदरणीय स्थान होने का एक और कारण यह भी है कि महावीर के पट्ट शिष्य सुधर्माचार्य के उत्तराधिकारी जम्बू स्वामी ने न केवल यहां निवास किया अपितु कैवल्य तथा मोक्ष प्राप्त कर मथुरा को सदा के लिए सिद्धपीठ बना दिया। आज भी उनकी स्मृति में चौरासी का स्थान जैनियों के लिए पुण्य तीर्थ है जहाँ जैन मुनि विहार के लिए आकर श्रोताओं और दर्शकों को सदुपदेश से लाभान्वित करते हैं। आवश्यक चूर्णि से ज्ञात होता है कि आर्यरक्षित ने मथुरा में भूतगुहा नामक चैत्य में विहार किया और आर्य मंगु देहावसान के पश्चात् निद्धवण यक्ष बने।

जैन आगमों को लिपिबद्ध करने के लिए प्रसिद्ध सरस्वती आंदोलन का सूत्रपात मथुरा से ही हुआ और शनैः-शनैः समस्त भारत में व्याप्त हो गया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप प्रथम शताब्दी ई. से ही ग्रन्थों का प्रणयन आरंभ हो गया और अब जैन साहित्य का विपुल भण्डार उपलब्ध है। चौथी शताब्दी में अंग साहित्य को सुव्यवस्थित करने के लिए आर्य स्कंदिल की अध्यक्षता में यहाँ एक सभा हुई जिसे माथुरी वाचना कहते हैं (नन्दी चूर्णी)। बृहत कल्पभाष्य में उल्लेख है कि ब्रज

के ९६ गांवों में अर्हतों की मूर्तियां स्थापित की जाती थीं और शुभ चिह्नों का अंकन होता था। इनका उद्देश्य भवनों को स्थायित्व प्रदान करना था।[4]

१४वीं शताब्दी में जिनप्रभ सूरि द्वारा लिखित मथुरापुरीकल्प का निम्नलिखित अंश जैन धर्म के मथुरा से सम्बन्ध की सुन्दर व्याख्या करता है :

इस मथुरा नगरी में भावी तीर्थंकर कृष्ण वासुदेव ने जन्म लिया था। आचार्य आर्य मंगु, भूत यक्ष, हुंडिय यक्ष और चौरजीव के यहाँ देवालय हैं। यहाँ पाँच स्थल है– अक्कस्थल, वीरस्थल, पद्मस्थल, कुशस्थल और महास्थल। यहाँ बारह वन हैं– लौहजंघवन, मधुवन, बिल्ववन, तालवन, कुमुदवन, वृन्दावन, भंडीरवन, खदिरवन काम्यकवन, कौलवन, बहुलावन और महावन। यहाँ पाँच लौकिक तीर्थ हैं– विश्रान्तिक तीर्थ, सिकुंड तीर्थ, बैंकुंठ तीर्थ, कालिंजर तीर्थ और चक्रतीर्थ। यहाँ बर्द्धमान के जीव अपरिमित बलसंयुक्त विश्वभूति का अंत हुआ था। यहाँ यमुना में वंकयमुन राजा के उपसर्ग से दण्ड नामक अनगार केवलज्ञान को प्राप्त होकर इन्द्र द्वारा पूजित हुए थे। यहाँ राजा जितशत्रु के पुत्र कालवेशित मुनि ने अर्शरोग से पीड़ित होकर मुग्दलगिरि में उपसर्ग सहन किया था। यहाँ शंख राजर्षि के तपतेज से प्रभावित होकर गजपुर के सोमदेव ब्राह्मण ने जिन दीक्षा ले ली थी। यहाँ निवृति नामक राजकन्या को सुरेन्द्रदत्त ने राधाबेध करके स्वयंवर में वरा था। यहाँ कुबेरदत्ता, उसकी माता कुबेरसेना और भाई कुबेरदत्त को अठारह नातों की कथा से संबोधा गया था। यहाँ श्रुतपारंगत आर्यमंगु ने साधुओं को प्रतिबोधा, कंवल और शंबल जिनदास के संसर्ग से प्रतिबुद्ध होकर नागकुमार हुए, मुनि अग्निकापुत्र ने पुष्पचूला को प्रव्रज्या ग्रहण कराई, मिथ्यादृष्टि इन्द्रपुरोहित ने पदाधात द्वारा साधु का अपमान किया और पश्चात्तापपूर्वक उनका भक्त हो गया। इन्द्र ने आर्यरक्षित सूरि की वन्दना की। यहाँ वस्त्र पुष्यमित्र, घृतपुष्यमित्र एवं दुर्बलिक पुष्यमित्र नामक ऋद्धिधारी साधुओं ने विहार किया। यहाँ भीषण द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के समय आर्य स्कंदिल ने संघ को एकत्र करके

आगमों का अनुयोग किया। यहाँ देवनिर्मित स्तूप में एक पक्ष के उपवास द्वारा देवता की आराधना करके जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण ने दीमकों से खाये त्रुटित महानिशीथ सूत्र की पूर्ति की। यहाँ शंखराज और कलावती ने पाँचवें जन्म में देवसिंह एवं कनक सुन्दरी के रूप में श्रमणोपासक रहकर राज्यश्री का उपभोग किया; इस प्रकार यह मथुरा नगर अनेक पुण्य कार्यों की जन्म भूमि है। यहाँ नरवाहना कुबेरादेवी, सिंहवाहना अंबिकादेवी और सारमेय वाहन क्षेत्रपाल तीर्थ की रक्षा करते हैं।[4]

उपर्युक्त साहित्यिक सन्दर्भ तथा परम्पराओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तीर्थंकरों, सिद्ध मुनियों तथा आचार्यों की जन्म लीलाओं, विहार, धार्मिक प्रवचन, तपस्या, कैवल्य लाभ तथा मोक्ष प्राप्ति से पुनः पुनः पवित्रभूत ब्रज भूमि और विशेष रूप से मथुरा नगर जैनियों तथा अहिंसा मार्ग के अनुयायियों के लिए आदि काल से प्रेरणा स्रोत बना रहा है।

कंकाली टीला

स्थिति : महान आत्माओं की स्मृति में राजाओं, धनी व्यापारियों तथा जन सामान्य ने अपनी श्रद्धा व सामर्थ्य के अनुसार मथुरा तथा आसपास के अनेक स्थानों में स्मारक, स्तूप, चैत्य, मठ, बिहार आदि का समय-समय पर निर्माण किया। काल गति तथा बर्बर विदेशी आक्रमणों से वे प्राचीन भवन ध्वस्त होकर टीलों के रूप में परिणत हो गए। इनमें मथुरा का कंकाली नामक टीला भारत के प्रसिद्ध पुरातात्त्विक स्थलों में माना जाता है। यह नगर के पश्चिम की ओर बी. एस. ए. कालेज तथा भूतेश्वर चौराहे के बीच स्थित है। केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग की विज्ञप्ति संख्या ७०६ एम-एस ११० एम-एस १९२७ दिनांक २७ अगस्त १९२८ द्वारा यह संरक्षित स्थान घोषित हुआ। सूची में इसकी क्रम संख्या ३२५ है। वर्तमान समय में कंकाली नामक देवी का छोटा सा मन्दिर होने से इसे कंकाली बोलते हैं। इस टीले को डॉ- स्मिथ ने ५००' लम्बा और ३०' चौड़ा बताया है।[6] किन्तु कनिंघम ने ४०० ' × ३००' लम्बाई चौड़ाई दी है।[7] उत्खनन में ४७' व्यास का ईटों का

Sphinx

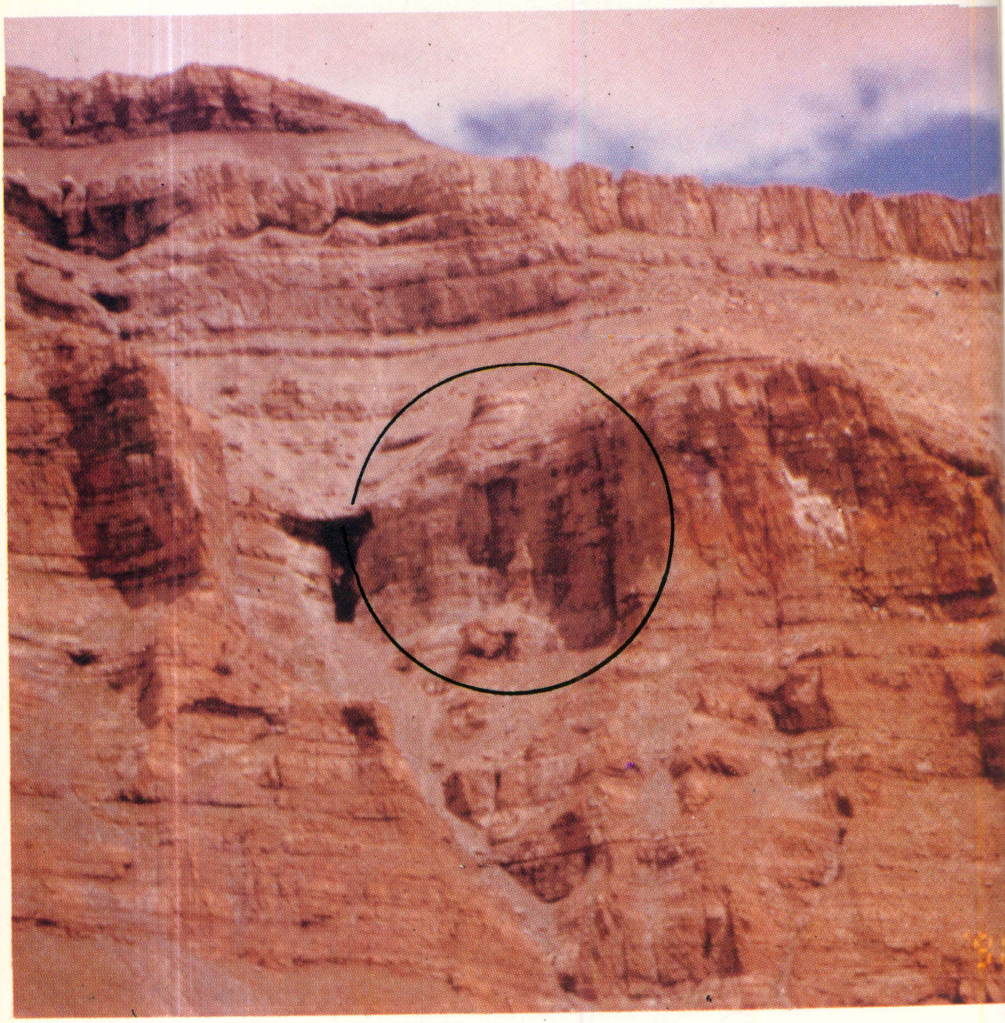

Gavaksh

स्तूप और दो जैन मन्दिर मिले । किन्तु खुदाई के पूरे नक्शे आदि उपलब्ध नहीं हैं ।

देव निर्मित स्तूप : इस स्थल की कीर्ति का प्रधान कारण था देव निर्मित जैन स्तूप का निर्माण । बृहत् कल्पभाष्य[8] से इसके महत्त्व को आंका जा सकता है । तदनुसार जिस प्रकार धर्मचक्र के लिए उत्तरापथ और जीवन्त स्वामी की प्रतिमा के कारण कौशल की प्रसिद्धि है उसी प्रकार देव निर्मित स्तूप से मथुरा प्रसिद्ध है । इसके निर्माण के सम्बन्ध में कुछ किंवदन्तियाँ तथा परम्परायें प्रचलित हैं । इनसे संकेत मिलते हैं कि देव निर्मित स्तूप के प्रभुत्व के विषय में बौद्ध तथा जैनों में कुछ संघर्ष हुआ किन्तु अंत में जैनों का अधिकार स्थिर हुआ (व्यवहार भाष्य) तथापि कुछ समय के लिए बौद्धों का स्वामित्व भी रहा होगा। विविध तीर्थ कल्प के अनुसार एक बार धर्म रूचि और धर्मघोष नामक दो जैन आचार्यों ने मथुरा में भूतरमण नामक स्थान पर विहार किया। उनकी साधना से कुबेरा नामक देवी बड़ी प्रसन्न हुई और उन जैन मुनियों की प्रेरणा पर सोने का एक रत्नजड़ित स्तूप प्रगट (निर्मित) कर दिया जो तीन वेदिका, तीन छत्रों सहित शिखर, तोरण, माला, जिनबिम्ब, ध्वजा आदि मांगलिक चिह्नों से युक्त था । मुख्य मूर्ति सुपार्श्वनाथ जी की थी । श्री अगरचन्द नाहटा ने मथुरा के जैन स्तूप के सम्बन्ध में कुछ अन्य साहित्यिक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं ।[9] तदनुसार आचार्य भद्रबाहु की ओधनियुक्ति में "चक्के थुभे" को टीकाकार ने "स्तूपो मथुरायो" से स्पष्ट किया है । १३ वीं शती के प्रभावक चरित्र के पादलिप्त सूरि प्रबन्ध में मथुरा में 'श्री सुपार्श्व जिन स्तूपऽनमत्' वर्णन है । १३१७ ई. में खरतरगच्छाचार्य जिनचन्द्रसूरि के नेतृत्व में जैन संघ की यात्रा निकली जिसमें मथुरा में सुपार्श्व, पार्श्व व महावीर तीर्थंकर के स्थानों की यात्रा का उल्लेख है । संगम सूरिकृत ११वीं-१२वीं शती के ग्रन्थ तीर्थमाला का यह श्लोक बड़े महत्व का है :

मथुरा पुरि प्रतिष्ठतः सुपार्श्व जिन काल संभवो जयति ।
अद्यापि सूराभ्यचर्म श्री देवी विनिर्मितः स्तूपः ॥

इसी प्रकार कालान्तर के ग्रन्थों में जैन संघ की मथुरा यात्रा, सुपार्श्व स्तूप तथा अन्य देवस्थानों का वर्णन मिलता है । मान्यता यह है कि सर्व

प्रथम एक ही मूल स्तूप था । कालान्तर में उनकी संख्या ५ हुई । तदनन्तर छोटे-छोटे ५२७ स्तूप बन गए जिनकी पूजा १७वीं शताब्दी तक होती रही । १५८३ ई. में साहु टोडर द्वारा ५१४ स्तूपों की प्रतिष्ठा की गई । इसके पूर्व आचार्य वप्पभट्टि सूरि ९वीं शती में ही एक पार्श्व जिनालय स्थापित कर चुके थे और एक महावीर बिम्ब भी भेजा था । ये सब पुण्य कार्य देवनिर्मित स्तूप (कंकाली) या चौरासी के आस-पास ही सम्पन्न हुए होंगे ।[10]

प्राचीनतम स्थान : साहित्य तथा अनुश्रुतियों के आधार पर इस स्थल की प्राचीनता सिद्ध करना संभव नहीं है । किन्तु पुरातत्व ने इस दिशा में हमारा मार्गदर्शन किया है । उत्खनन से प्राप्त कुषाण कालीन एक मूर्ति की पीठ (लखनऊ जे.२०) पर उत्कीर्ण लेख में इसे देव निर्मित बौद्ध स्तूप बताया है, इस महत्त्वपूर्ण मूर्तिलेख को उद्धृत करना आवश्यक है :

पंक्ति १...सं. ९व ४ दि २० एतस्यां पूर्व्वायां कोटटिये गणे वैरायां शाखाय पंक्ति २—को अय वृधहस्ति अरहतो नन्दि (अ) वर्तस प्रतिमं निर्वर्तयति, पंक्ति ३ नीचे...भार्य्यये श्राविकाये (दिनाये) दानं प्रतिना बौद्धे थूपे देव निर्मित प्र...[11] ।

अर्थात् वर्ष ७९ की वर्षा ऋतु के चतुर्थ मास के बीसवें दिन कोटिय गण की वैर शाखा के आचार्य वृद्धहस्ति ने अर्हत् नन्यावर्त की प्रतिमा का निर्माण कराया और उन्हीं के आदेश से भार्या श्राविका दिना द्वारा यह प्रतिमा देव निर्मित बौद्ध स्तूप में दान स्वरूप प्रतिष्ठापित हुई ।

प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी नन्द्यावर्त के स्थान पर मुनिसुव्रतस पढ़ते हैं । विचार-विमर्श में डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह ने मत व्यक्त किया कि लेख को "प्रतिमावो द्वे थपे निर्मिते" पढ़ा जाना चाहिए । तदनुसार प्रतिमा तथा दो स्तूपों का निर्माण हुआ । कुषाण संवत् में इन्हें उत्कीर्ण मानने पर मूर्ति का समय १५७ ई. आ जाता है । यदि यह काल गणना किसी अन्य संवत् में है तो मूर्ति और प्राचीन मानी जा सकती है ।[12] विद्वानों का अनुमान है कि इसे देवमिर्मित बताने का तात्पर्य यह है कि पहली-दूसरी शताब्दी ई. में ही यह स्थान इतना प्राचीन माना

जाता था कि इसके निर्माण का इतिहास विस्मृत हो चुका था । अतः इसे देवताओं की कृति माना जाने लगा ।[13] उपर्युक्त अनेक साहित्यिक सन्दर्भों के प्रकाश में इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँचा जा सकता है कि मूर्ति के अभिलेख में वर्णित देवनिर्मित स्तूप वही है जिसे देवी कुबेरा ने स्थापित किया था ।

तीर्थकल्प ग्रन्थ में यह भी उल्लेख है कि पार्श्वनाथ जी के समय मूल सुवर्ण स्तूप पर ईटों की परिधि बनवाई गई तथा बाहर पत्थर का एक मन्दिर बना । डॉ. उमाकान्त शाह का मत है कि देवनिर्मित स्तूप पार्श्वनाथ जिन की स्मृति में ही मूलतः बना होगा । जिनप्रभसूरि ने भ्रमवश सुपार्श्व लिखा है । कंकाली से प्राप्त अवशेषों में पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ ही अधिक हैं । किन्तु हमें यह मत मान्य नहीं है क्योंकि अन्य लेखकों ने भी इसे सुपार्श्व का स्तूप माना है अतः सभी भ्रान्त नहीं हो सकते । पार्श्वनाथ जी महावीर जी के पूर्ववर्ती थे और उनका समय ९०० ई. पूर्व के आसपास माना जाता है । जिस देव निर्मित स्तूप का पुनःनिर्माण ९०० ई. के पूर्व के आसपास हुआ वह कम से कम १०० या २०० वर्ष और पुराना अवश्य रहा होगा । इस प्रकार साहित्य तथा पूरातत्व के समन्वित अध्ययन का सारांश यह है कि कंकाली टीले पर स्थित देव निर्मित स्तूप की रचना का आरम्भ किसी न किसी रूप में अब से लगभग ३००० वर्ष पहले हो चुका था और यथासमय उसके स्वरूप का परिवर्तन होता रहा । अतः निश्चय ही मथुरा का देव निर्मित स्तूप भारत का प्राचीनतम स्मारक था । इस तथ्य से देशी तथा विदेशी सभी विद्वानों ने सहमति प्रकट की है ।[14] अतः भारतीय पुरातत्व में कंकाली टीले के जैन स्तूप का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है ।

यह प्राचीन जैन-स्थल भारतीय कला रत्नों की खान माना जाता रहा है । जहाँ से सैकड़ों की संख्या में वास्तु अवशेष तथा तीर्थंकर व देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं । मथुरा के तत्कालीन समाज के अध्ययन में ये सांस्कृतिक अवशेष सुन्दर कोष की भूमिका निभाते हैं । यदि सिंधु संस्कृति तथा पटना के समीप लोहानीपुर से प्राप्त विवादास्पद मूर्तियों को छोड़ दें तो मथुरा की जैन मूर्तियाँ ही प्राचीनतम सिद्ध होती हैं ।[15] इन मूर्तियों की प्रमुख विशेषता यह है कि इनके अध्ययन

में जैन मूर्तिकला की आरम्भ से मध्यकाल तक विकास श्रृंखला की सभी कड़ियाँ भली-भांति गुम्फित दीखती हैं। गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही यहाँ से अवशेष मिलने आरम्भ हो गये थे। कनिंधम, हार्डिंग, ग्राउज, बर्गेस आदि ने समय-समय पर सर्वेक्षण तथा उत्खनन कर अभिलिखित मूर्तियाँ व वास्तुखण्ड निकाले। डा. फयूरर ने १८८८ से ९१ के बीच बड़े पैमाने पर उत्खनन कर सैकड़ों श्रेष्ठ तथा बहुमूल्य कृतियाँ लखनऊ संग्रहालय को भेजी। डा. विसेन्ट स्मिथ ने उत्खनन से प्राप्त इस सामग्री पर १९०१ में एक सचित्र पुस्तक प्रकाशित की।[16] इसकी भूमिका में मूर्तियों की संख्या ७३७ बताई है। डॉ. वोगल ने भी मथुरा संग्रहालय के कैटालाग पृ.१७ से स्पष्ट किया है कि १८९०-९१ केवल एक वर्ष की खुदाई से ही ७३७ मूर्तियाँ निकलीं और उन्हें लखनऊ संग्रहालय भेज दिया गया। ४७ फीट व्यास ईटों का एक स्तूप तथा दो जैन मन्दिर प्रकाश में आए। इसके अतिरिक्त भी अनेक कलाकृतियाँ कंकाली से मिलती रहीं जिनमें कुछ मथुरा संग्रहालय में विद्यमान.हैं। खुदाई से मिले अवशेषों में यद्यपि सभी धर्मों का न्यूनाधिक प्रतिनिधित्व है किन्तु जैन मूर्तियों की संख्या बहुत अधिक है। इनका काल निर्धारण दूसरी शती ई. पूर्व से लगभग १२वीं शताब्दी के बीच हुआ है। कंकाली के अधिकतर कलारत्न लखनऊ संग्रहालय में हैं तथा शेष भारत के अन्य तथा विदेशी संग्रहालयों में भी छिटके पड़े हैं।

आयाग पट्ट : उत्खनन से पत्थर की कुछ चौकोर पट्टियाँ मिली हैं जिनमें शुभ चिह्नों का अंकन है और कभी-कभी बीच में जिन आकृति बनी रहती है। इन्हें तीर्थंकरों की स्मृति में पूजा के निमित्त स्थापित किया जाता था। ये उस संक्रमण युग के हैं जब प्रतीकों की उपासना प्रचलित थी और मानवाकृति में महापुरूषों की मूर्तियों का श्रीगणेश हो रहा था। इन्हें प्रथम शताब्दी ई. पू. तथा पहली शती ई. के बीच मानते हैं।[17] अधिकतर आयागपट्ट कंकाली टीले से ही उपलब्ध हुए हैं। अमोहिनी या आर्यावती तथा शिवयशा के पट (लखनऊ संग्रहालय), सिंहनादिक पट (दिल्ली संग्रहालय) और लवण शोभिका की पुत्री वसु का पट (मथुरा संग्रहालय) अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ स्तूप की रचना

का बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है । अमोहिनी पट को जैन धर्म की स्थिति का सबसे प्राचीन प्रमाण माना जाता है ।[18] आयाग पटों मे उत्कीर्ण अष्ट मांगलिक चिह्न हैं मीनमिथुन, त्रिरत्न, चैत्यवृक्ष, सराव सम्पुट, भद्रासन, श्रीवत्स, स्वस्तिक और मंगल कलश ।

तीर्थंकर प्रतिमाएँ : आयाग पट में उकेरी छोटी जिन मूर्ति का स्वतन्त्र प्रतिमाओं के रूप में विकास हुआ । प्राचीन तीर्थंकर मूर्तियों में यक्षों का पर्याप्त अनुकरण है । ये दो मुद्राओं में मिली हैं– पहली ध्यान भाव में आसीन और दूसरी कैवल्य की प्राप्ति के लिए दण्डवत खड़ी । युवा सुन्दर शरीर, वक्ष पर श्रीबस्त चिह्न, आजानुबाहु और प्रशान्त भाव प्रमुख लक्षण हैं । कंकाली से प्राप्त ऐसी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ लखनऊ संग्रहालय में हैं । कुषाण युगीन रचना विकासोन्मुख है और गुप्त कालीन मूर्तियों में सौष्ठव दिखाई देता है तथा प्रभामण्डलपूर्ण हैं । प्राचीन मूर्तियों में से आदिनाथ या ऋषभनाथ को कन्धे पर पड़ी जटाओं से और पार्श्वनाथ को सर्प फणों की छतरी से पहचाना जा सकता है । नेमिनाथ जी की मूर्तियों में कृष्ण व बलराम का प्रदर्शन रहता है । कंकाली से मिली संवत् १८ की अरिष्ट नेमि (जिन्हें नेमिनाथ माना जाता है) की प्रतिमा में कृष्ण बलराम प्रदर्शित नहीं है ।[19] शेष २३ तीर्थंकरों की मूर्तियों को यदि उनका नाम अभिलेख में नहीं है तो पहचानना संभव नहीं है । सं. १९ की प्रतिमा शान्तिनाथ की है । दोनों लखनऊ संग्रहालय में है ।[20] मध्य युग से सभी तीर्थंकर लक्षण चिह्न अंकित होने लगे । इससे पहचानने में बड़ी सरलता हुई । मुख्य तीर्थंकर के साथ शासन देवता यक्ष-यक्षिणी की आकृतियाँ भी बनने लगी । उक्त देवताओं की स्वतन्त्र प्रतिमायें भी मिलती हैं । मथुरा संग्रहालय की चक्रेश्वरी की मूर्ति कंकाली की अमूल्य निधि है । कुछ ऐसी प्रतिमाएँ मिली हैं जो स्तंभ के समान है और चारों ओर तीर्थंकर बने हैं । इन्हें सर्वतोभद्र या चतुर्मुखी कहते हैं । बहुत सी. प्रतिमाएँ अभिलिखित हैं और उनमें संवत्, महीना, ऋतु तथा दिवस भी दिया है । इनसे तत्कालीन जैन समाज के धार्मिक संगठन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

अन्य मुख्य कलाकृतियाँ : तीर्थंकरों के साथ ही कुछ फुटकर मूर्तियाँ व दृश्य भी महत्वपूर्ण हैं । सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति कंकाली से ही

मिली है (लखनऊ संग्रहालय जे.२४)। इसमें देवी बाएँ हाथ में पुस्तक लिए है और दाहिना हाथ अभय में ऊपर उठा है। अभिलेख में इसे सरस्वती प्रतिमा बताया है। मथुरा से आरम्भ सरस्वती आन्दोलन को और अधिक वेग देने के लिए ऐसी प्रतिमाएँ बनी होंगी। गण, कुल, शाखा, आचार्य, वाचक, श्रद्धाचार आदि शब्दों से जैन समाज के सुव्यवस्थित होने का संकेत मिलता है। तीर्थंकर की लीलाओं का अंकन दुर्लभ है किन्तु कंकाली से ऐसे दो दृश्य मिले हैं। एक शुंग कालीन वास्तु खण्ड पर है जिसमें नर्तकी नृत्य कर रही है। और कुछ अन्य संगीतज्ञ वाद्ययंत्रों से संगीत में लीन हैं (लखनऊ संग्रहालय जे.३५४)। इसमें एक नग्न साधु भी है जिसे ऋषभनाथ माना जाता है और नर्तकी है नीलांजना अप्सरा जिसने ऋषभदेव की सभा में सुन्दर नृत्य किया था, किन्तु वह भौतिक बंधनों को काट चुके थे, नृत्य के प्राचीनतम भारतीय दृश्यों में यह है। इससे वैभवशालिनी मथुरा की सुरूचिसंपन्नता का आभास मिलता है। एक दृश्य में ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में महावीर जी के भ्रूण का स्थानांतरण चित्रित है। कार्य समाप्ति के उपरांत भगवान् नेगिमेश (अजमुखी बाल-संरक्षण देवता) ने इन्द्र को वृत्तान्त बताया तो देवांगनाएं हर्ष से नाच उठीं। एक ओर वाद्य संगीत तथा नृत्य की दृष्टि से कुषाण कालीन यह फलक महत्वपूर्ण है वहीं दूसरी ओर इससे भ्रूण स्थानान्तरण जैसी बड़ी जटिल शल्य क्रिया का अनुमान लगता है।[21] पत्थर की बड़ी व चौड़ी नालियाँ जैसी मिली हैं। अनुमान हैं कि प्रासादों में जल-व्यवस्था अथवा जल निष्कासन के हेतु इनका प्रयोग होता था। मत्स्य, मकर, स्वस्तिक, त्रिरत्न के शुभ प्रतीकों से संकेत मिलता है कि इन्हें अच्छे स्थानों में लगाया गया था।

वास्तुखंडों में वस्त्र परिधान, आभूषण, केश-विन्यास, आमोद-प्रमोद संस्कार, दैनिक जीवन आदि के दृश्यों के साथ ही विभिन्न प्रकार के वृक्ष, कमल, लता, पुष्प, गुल्म, पशु-पक्षी एवं काल्पनिक जीवों (ईहामृग) का भी मनोरम अंकन है। शुंग कालीन तोरण शीर्ष पट्टी[22] पर एक ओर यात्रा का दृश्य है और दूसरी ओर सुपर्ण तथा किन्नरों द्वारा स्तूप का पूजन हो रहा है। भारतीय कला का यह अत्यंत उत्कृष्ट नमूना है। तोरण शालभंजिका तथा वेदिका स्तंभों पर बनी विभिन्न मुद्राओं में

रमणियों की आकृतियाँ भी दर्शनीय है। कोई वृक्ष के नीचे पुष्पावचयन में लीन है अथवा प्रसाधन या पूजन सामग्री लिए प्रतीक्षा कर रही है तो अन्य के विन्यास सम्हालती है। कोई खड़ग लिए नृत्य मुद्रा में है तो अन्य निर्झर स्नान का आनन्द लूट रही है।[23] राय पसेणि सुत्त में मथुरा के जैन शिल्प व स्थापत्य का ही विस्तृत विवरण दिया प्रतीत होता है। भारतीय प्रस्तर कला और मुख्यतः मथुरा कलाशैली के कालक्रम का निर्धारण करने में मथुरा के जैन शिल्प का विशिष्ट अवदान है। तीर्थंकर प्रतिमाएँ सैकड़ों वर्षों तक ध्यानस्थ व कायोत्सर्ग मुद्रा में बनती रहीं। अतः उनके विकास के चिह्न मात्र शरीर सौष्ठव से ही आभासित होते हैं किन्तु पीठ की रचना, सिंहों की स्थिति, लेख आदि से कला का क्रमिक विकास शीघ्र हृदयंगम हो जाता है और अनेक जटिलताओं का समाधान हो जाता है।

धर्म सामंजस्य : कंकाली टीले का अतीत धर्म सामंजस्य का ज्वलंत उदाहरण है। यदि दिगम्बर मूर्तियाँ बहुल संख्या में हैं तो अर्द्धफलक मुनियों तथा श्वेताम्बर प्रतिमाओं का सर्वथा अभाव नहीं है। रजोहरण धारी एक मुनि ने अपने नग्न शरीर को अंशतः ढकने का प्रयास किया है।[24] लखनऊ संग्रहालय की दो मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। एक मूर्ति सं. ११३४ (१०७७ ई. लखनऊ संग्रहालय सं. जे.१४५) और दूसरी सं. ११३८ (१०८१ ई. लखनऊ संग्रहालय जे. १४३)। ये दोनों ही मूर्तियाँ संघ की श्वेताम्बर शाखा द्वारा स्थापित हुई।[25] दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ग्रन्थों में मथुरा का माहात्म्य है। देव निर्मित कंकाली का स्तूप दोनों को समान रूप से मान्य रहा।

कंकाली के अतिरिक्त मथुरा के अन्य कुछ स्थलों से भी जैन पुरावशेष मिले हैं जिनमें समुद्र व सागर द्वारा स्थापित आदिनाथ की स्थिर मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। गुप्त कालीन ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख **"ऋषभस्य प्रतिमा"** के कंधे पर पड़े केश और कायोत्सर्ग मुद्रा में बने तीर्थंकर को आदिनाथ पहचानना सरल हो गया। **"सिद्धं ऋषभस्य प्रतिमा समुद्र सागराभ्या संगरकस्य दत्ता सागरस्य प्रतिमा।"**

तथ्य तो यह है कि मथुरा का जैन समाज प्राचीन काल में सहिष्णुता के लिए आदर्श रहा है। साथ ही जाति, वर्ग, लिंग, देशी, विदेशी आदि

संकीर्ण मनोवृत्तियों से भी यह ऊपर उठा था। यहाँ सैकड़ों वर्षों तक यह प्रयास रहा कि दिगम्बर आम्नायों तथा श्वेताम्बर आम्नायों की खाई पाट दी जाय। पूरे देश में जब संघ सम्बन्धी भेद जड़ पकड़ गया तब भी मथुरा ने कुछ शताब्दी तक अपने को इस संघर्ष से बचाने में सफलता प्राप्त की।[26] मथुरा स्थापत्य भी हमें उसी उदार विचारधारा का संदेश देता है।

कंकाली में न केवल जैनों के दो सम्प्रदायों में उदार भाव बना रहा अपितु उपलब्ध अवशेष बताते हैं कि अन्य धर्मों का भी यहाँ समादर होता था। देव निर्मित स्तूप के समीप ही हमें ब्राह्मण व बौद्ध धर्मों की सुन्दर प्रतिमाएँ मिलती हैं। शुंगकाल की सर्प फणों से आच्छादित तथा हल मूसल लिये बलराम की मूर्ति अति प्रसिद्ध है। इसकी प्राचीनतम ब्राह्मण मूर्तियों में गणना है। शुंगकाल की ही अन्य मूर्ति में एक व्यक्ति बैल पर सवार है। संभव है कि यह वृषारोही शिव हों।[27] कार्तिकेय की कुषाण कालीन एक सुन्दर मूर्ति कंकाली से मिली है जिसमें वह शक्ति लिए खड़े हैं। इसकी विशेषता यह है कि अभिलेख में इसे कार्तिकेय की प्रतिमा बताया है (मथुरा संग्रहालय ४२.२९४९)। इसी प्रकार उदीच्य वेष में कोट तथा जूते पहने सूर्य की कुषाण कालीन प्राचीनतम प्रतिमा मिली है (मथुरा संग्रहालय १२.२६९)। बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियाँ मिली हैं। इस प्रकार विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित कलाकृतियों से यह धारणा बनती है कि मथुरा में उस समय धार्मिक संकीर्णता नहीं थी। लखनऊ संग्रहालय के १८८९ के वार्षिक विवरण में कंकाली के उत्खनन से मिली विभिन्न संप्रदायों की मूर्तियों का संक्षिप्त व्यौरा है। एक सम्प्रदाय के अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय का आदर करते थे। उनके देवी देवताओं की मूर्तियाँ भी कंकाली तथा आस-पास सुविधानुसार स्थापित की गई। इस उदारवादी दृष्टिकोण का विदेशियों के मानस पटल पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा। फलतः हम शक, कुषाण स्त्री पुरूषों को भारतीय देव समुदाय की उपासना में लीन देखते हैं। उन्होंने यदि सैन्य बल से भारत को जीता तो मथुरा की सहिष्णु संस्कृति और जैनों की अहिंसा वृत्ति ने उनका हृदय जीत लिया।

1. अगरचन्द नाहटा, ब्रज भारती, वर्ष ११ सं. २.
2. पर्व १६ श्लोक १५५.
3. प्रभुदयाल मीतल, ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, पृ.५४.
4. डा. ज्योति प्रसाद जैन, 'मथुरा में जैन धर्म का उदय और विकास', ब्रज भारती, वर्ष १५ अंक २, पृ.११.
5. वही, पृ.१८-१९.
6. दि जैन स्तूप एण्ड अदर एंटीक्वीटिज आफ मथुरा, १९०१, भूमिका, पृ.२.
7. आरक्यॉलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, खंड III, १८७१, पृ.१९.
8. ५/१५३६.
9. सन्दर्भ, सं. १.१०.
10. वही, पृ.८.
11. वही.
12. सन्दर्भ ४, पृ.१२.
13. स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ.१२ पाद टिप्पणी.
14. डा.जे.पी. जैन, दि जैन सोर्सिज आफ दि हिस्ट्री आफ एन्शिन्ट इंडिया, पृ.२३७-३८.
15. आर. पी. चन्द्रा, आरक्याँलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १४२५-२६, पृ.१२४ और १८०.
16. सन्दर्भ सं. ६.
17. डा.जे.ई.वी. एल. लियू, दि सीथियन पीरियड, पृ.१५३.
18. वही, पृ.१४७.
19. वही, पृ.२६८-६९, आकृति ६३.
20. वही, पृ.२६९-७०.
21. सन्दर्भ सं. ६. प्लेट xviii.
22. वही, प्लेट xv.
23. वही, प्लेट xiii.
24. वही, प्लेट vii.
25. वही, प्लेट xciv और xcv.
26. सन्दर्भ सं. ४. पृ.१४.
27. सन्दर्भ सं. ६. प्लेट cii.
28. वही, पृ.२-३.

ऋषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ

डा. राजकुमार जैन

ऋषभदेव तथा शिव दोनों ही अति प्राचीनकाल से भारत के महान आराध्य देव हैं, वैदिक काल से लेकर मध्ययुग तक प्राच्य वाङ्मय में दोनों का देव-देवताओं के विविध रूपों में अंकन हुआ है, वह अध्ययन का बड़ा मनोरंजक विषय है। प्रस्तुत लेख में उन्हीं मान्यताओं की विस्तारपूर्वक चर्चा की जा रही है।

उपलब्ध भारतीय प्राच्य साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव की जो मान्यता एवं पूज्यता जैन परम्परा में है, हिन्दू परम्परा में भी वह उसी कोटि-की है। जिस प्रकार जैन परम्परा में उन्हें मान्य एवं संस्तुत किया गया है, हिन्दू शास्त्र एवं पुराण भी उन्हें भगवान् के अवतार के रूप में मान्य करते हैं।

श्रीमद् भागवत[1] में भगवान् वृषभदेव का बड़ा ही सुन्दर चरित अंकित किया गया है। इसमें भगवान् की स्वयंभू मनु, प्रियव्रत, आग्नीघ्र नाभि तथा वृषभ– इन पांचों पीढ़ियों की वंशपरम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है कि आग्नीघ्र के पुत्र नाभिराजा के कोई पुत्र नहीं था। अतः उन्होंने पुत्र की भावना से मरूदेवी के साथ यज्ञ किया। भगवान् ने दर्शन दिये। ऋत्विजों ने उनका संस्तवन किया और निवेदन किया कि राजर्षि नाभि का यह यज्ञ भगवान् के समान पुत्रलाभ की इच्छा से सम्पन्न हो रहा है। भगवान् ने उत्तर दिया–मेरे समान तो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं। तथापि ब्रह्मवाक्य मिथ्या नहीं होना चाहिए अतः मैं स्वयं ही अपनी अंशलता से आग्नीघ्रनन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूँगा। इसी वरदान के फलस्वरूप भगवान् ने ऋषभ के रूप में जन्म लिया।

इसी पुराण में आगे लिखा है–यज्ञ में ऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विष्णुदत्त परीक्षित स्वयं श्री भगवान् 'विष्णु' महाराज नाभि

का प्रिय करने के लिये अन्तःपुर की महारानी मरूदेवी के गर्भ में आये। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया ।[२]

भगवान् ऋषभदेव के ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल में इतनी बद्धमूल हुई कि शिव महापूराण में भी उन्हें शिव के अट्ठाईस योगावतारों में गिनाया गया[३] प्राचीनता की दृष्टि से भी यह अवतार रामकृष्ण के अवतारों से भी पूर्ववर्ती मान्य किया गया है । इस अवतार का जो हेतु श्रीमद् भागवत में दिखलाया गया है वह श्रमण धर्म की परम्परा को असंदिग्ध रूप से भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से संयुक्त करा देता है । ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करना बतलाया है । श्रीमद् भागवत में ऋषभावतार का एक अन्य उद्देश्य भी इस प्रकार बतलाया गया है :-

'अयमवतारो राजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थम् ।'

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुणी जन को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ था । किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी सम्भव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण 'मल धारण करना' वृत्ति द्वारा कैवल्य की शिक्षा के लिए हुआ था । जैन साधुओं के आचार में अस्नान अदन्तधावन तथा मलपरीपह आदि के द्वारा रजोधारण वृत्ति को संयम का एक आवश्यक अंग माना गया है । बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे । तथागत ने श्रमणों की आचार प्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था[४]–

नाहं भिक्खवे संधाटिकस्स संघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि, अचेलकस्म अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्स रजोजल्लिकमत्तेन जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामं वदामि ।'

अर्थात्–हे भिक्षुओं, मैं संघाटिक के संघाटी धारण मात्र से श्रामण्य नहीं कहता, अचेलक के अचेलकत्व मात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिक मात्र से और जटिलक के जटा धारणमात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता।

भारत के प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि उक्त वातरशना तथा रजोजल्लिक साधुओं की परम्परा बहुत प्राचीन परम्परा है । ऋग्वेद में उल्लेख है[५] –

'मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला,
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविसत ।
उन्मादिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्,
शरीरे दस्माकं सू यं मर्तासो अभिश्यथ ।'

अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनिमल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं, जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं ।

वातरशना मुनि प्रकट करते हैं—समस्त लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् 'परमानन्दसम्पन्न' वायु भाव 'अशरीरी ध्यानवृत्ति' को प्राप्त होते हैं । तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे अभ्यन्तर स्वरूप को नहीं ।

वातरशना मुनियों के वर्णन के प्रारम्भ में ऋग्वेद में ही 'केशी' की निम्नांकित स्तुति की गई है, जो इस तथ्य की अभिव्यंजिका है कि 'केशी' वातरशना मुनियों के प्रधान थे । केशी की वह स्तुति निम्न प्रकार है :[६]

'केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्त्ति रोदसी,
केशी विश्वं स्वर्दशे केशीदं ज्योतिरूच्यते ।'

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है । केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान' ज्योति कहलाता है, अर्थात् केवल ज्ञानी कहलाता है ।

ऋग्वेद के इन केशी तथा वातरशना मुनियों की साधनाओं को श्रीमद् भागवत में उल्लिखित वातरशना श्रमणऋषि और उनके अधिनायक ऋषभ तथा उनकी साधनाओं की पारस्परिक तुलना भारतीय आध्यात्मिक साधना और उसके प्रवर्तक के निगूढ प्राक् ऐतिहासिक अध्याय को बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकाश में लाती है ।

ऊपर के उल्लेखों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनि और श्रीमद् भागवत के "वातरशना श्रमण-ऋषि" एक ही परम्परा अथवा सम्प्रदाय के वाचक हैं । सामान्यत: केशी का अर्थ केशधारी होता है,

परन्तु सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियों को धारण करने वाला' किया है और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है, परन्तु प्रस्तुत सूक्त में जिन वातरशना साधुओं की साधनाओं का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ की कोई संगति नहीं बैठती । केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं, जिनकी साधना से मलधारण, मौनवृत्ति और उन्मादभाव (परमानन्द दशा) का विशेष उल्लेख है । सूक्त में आगे उन्हें ही :

'मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः''

देवदेवों के मुनि को उपकारी तथा हितकारी सखा बतलाया गया है । वातरशना शब्द में और मलरूपी वसन धारण करने में उनकी नाग्नय वृत्ति का भी संकेत है ।

श्रीमद् भागवत में ऋषभ का वर्णन करते हुए लिखा है :

''उर्वरित शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेशः आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज जड़ान्ध-मूक-वधिर-पिशाचोन्मादकवत् अवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौन-व्रतः तुष्णीं बभूव...परागवलम्बमान कुटिल-जटिल-कपिश केशभूरिभारोऽ-वधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत हवादृश्यत ।''

अर्थात् ऋषभ भगवान के शरीर मात्र का परिग्रह शेष रह गया था। वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी, बिखरे हुए केशोंसहित आहवनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश में प्रव्रजित हुए । वे जड़, मूक्त, अन्ध, वधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेश में लोगों के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किये हुए शान्त रहते थे,...सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भारसहित अवधूत और मलिन शरीर के साथ वे ऐसे दिखाई देते थे, जैसे उन्हें कोई भूत लगा हो ।

ऋग्वेद के तथोक्त, केशीसूक्त तथा श्रीमद् भागवत में वर्णित श्री ऋषभदेव के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैदिक केशी सूक्त को ही श्रीमद् भागवत में पल्लवित भाष्यरूप में प्रस्तुत कर

दिया गया है । दोनों में ही वातरशना अथवा गगन-परिधानवृत्ति, केश-धारण, कपिशवर्ण, मलधारण, मौन और उन्मादभाव समान रूप से वर्णित है ।

भगवान ऋषभदेव के कुटिल केशों का अंकन जैन मूर्तिकला की एक प्राचीनतम परम्परा है जो आज तक बराबर अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है । यथार्थतः समस्त तीर्थंकरों में केवल ऋषभदेव की ही मूर्तियों के शिर पर कुटिल केशों का रूप दिखलाया जाता है और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है । ऋषभनाथ के केसरियानाथ नामान्तर में भी यही रहस्य निहित मालूम देता है ।[७] केसर, केश और जटा-तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं । जिस प्रकार सिंह अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है, उसी प्रकार केशी और केसरियानाथ ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं । केसरियानाथ पर जो केशर चढ़ाने की विशेष मान्यता प्रचलित है वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है । इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि एवं श्रीमद् भागवत के ऋषभ तथा वातरशना श्रमण-ऋषि एवं केसरियानाथ और ऋषभ तीर्थंकर तथा उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं ।

ऋग्वेद की निम्नांकित ऋचा से केशी और वृषभ अथवा ऋषभ के एकत्व का ही समर्थन होता है :[८]

'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी ।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतःसहानस, ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है, उसकी प्रस्तावना में निरूक्त के जो 'मुद्गलस्य दृप्ता गावः' आदि श्लोक उद्धृत किये गये हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गायों को चोर ले गये थे । उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया जिसके वचनमात्र से वे गौएँ आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ी ।

प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ तथा केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है, किन्तु फिर उन्होंने प्रकारान्तर से कहा है :-

"अथवा अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्टकेशो वृषभोऽवावचीत् भ्रगमशब्दयत्" इत्यादि ।

सायण के इस अर्थ को तथा निरूक्त के उक्त कथाप्रसंग को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का निम्न अर्थ प्रतीत होता है ।[९]

"मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ, जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएँ (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मोद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृति) की ओर लौट पड़ीं ।"

तात्पर्य यह कि ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुखी थीं, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गई ।

ऋषभदेव और वैदिक अग्निदेव

अग्निदेव की स्तुति में वैदिक सूत्रों में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उनके अंध्ययन से स्पष्ट है कि यह अग्निदेव भौतिक अग्नि न होकर आदि प्रजापति वृषभदेव ही हैं–जातवेदस् (जन्मतः ज्ञान-सम्पन्न), रत्नधरक्त (दर्शन, ज्ञान चारित्र रूप रत्नों को धारण करने वाला) विश्ववेदस् (विश्वतत्त्वों का ज्ञाता) मोक्ष नेता, ऋत्विज् (धर्मस्थापक), होता, हय, यज्ञ, सत्य यशवल इत्यादि[१०] वैदिक व्याख्याकारों ने भी लौकिक भ्रान्तियों का निग्रह करने के लिए स्थल-स्थल पर इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि अग्निदेव वही है जिसकी उपासना मरूद्गण रूद्र संज्ञा से करते हैं । रूद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार-रूद्र, के ये नौ नाम अग्निदेव के ही विशेषण हैं ।[११] अग्निदेव ही सूर्य है ।[१२] परमविष्णु ही देवों (आर्यगण) की अग्नि है ।[१३] इस मत की सर्वाधिक पुष्टि अथर्ववेद के ऋषभसूक्त से होती है, जिसमें ऋषभ भगवान् की अनेक विशेषणों द्वारा स्तुति करते हुए उन्हें जातवेदस् (अग्नि) विशेषण से भी विशिष्ट किया गया है ।[१४]

उपर्युक्त विशेषणों तथा समस्त प्राचीन श्रुतियों के आधार पर स्तुत्य अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ब्राह्मण ऋषियों ने यह व्यक्त किया

है कि उपास्य देवों के अग्र में उत्पन्न होने के कारण वह अग्नि अथवा अग्नि संज्ञा से प्रसिद्ध हुए ।[१५] इन लेखों के प्रकाश में केवल यह तथ्य ही स्पष्ट नहीं होता कि ऋषभदेव का ही अपर नाम अग्निदेव रहा, अपितु यह भी सिद्ध है उपास्यदेव के अर्थ में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द संस्कृत का न होकर अग्नि का लोकव्यवहृत प्राकृत अथवा अपभ्रंश रूप है जो आर्यगण के भारत-आगमन से पूर्व ही आदिब्रह्मा वृषभ के लिए प्रयुक्त होता आ रहा था । यही कारण है कि ब्राह्मण-ऋषियों को वृषभ की अग्नि संज्ञा 'अग्नि' अर्थमूलक करने के लिए तत्सम्बन्धी श्रुतियों को आधार जानकर उसकी व्युत्पत्ति 'अग्र' शब्द से करनी पड़ी । अन्यथा संस्कृत भाषा की दृष्टि से अग्नि एवं अग्नि शब्द में अत्यन्त पार्थक्य है।

आर्यजन के अग्निदेव और वृषभदेव की एकता

वैदिक अनुश्रुतियों से सिद्ध होता है कि अग्नि संज्ञा से वृषभ की उपासना करने वाले अधिकांश वे क्षत्रियजन थे, जो पंचजन के नाम से प्रसिद्ध थे ।[१६] इनमें यदु, तुर्वसा, पुरू, द्रुह्य, अनु नाम की क्षत्रिय जातियां सम्मिलित थीं । ये लोग ऋग्वैदिक काल में कुरूक्षेत्र, पांचाल, मत्स्यदेश और सुराष्ट्रदेश में बसे थे । जब आर्यगण सप्त सिन्धु देश में से होते हुए कुरूभूमि में आबाद हुए और यहां पंचजन क्षत्रियों की धार्मिक संस्कृति के सम्पर्क में आये तो उनसे प्रभावित होकर इन्होंने भी उनके आराध्यदेव वृषभ को 'अग्नि' संज्ञा से अपना आराध्यदेव बना लिया । यह ऐतिहासिक तथा कश्यपगोत्री मरीचिपुत्र ऋषि ने अग्निदेव की स्तुति करते हुए ऋग्वेद १-९ में 'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्' शब्दों द्वारा स्वयं व्यक्त किया है ।

इस सूक्त के नौ मन्त्र हैं । इनमें से पहले सात मन्त्रों के अन्त में *ऋषिवर ने उक्त शब्दों को पुनः पुनः दोहराया* है । इसका अर्थ है कि- देवा (अपने को देव संज्ञा से अभिवादन करने वाले आर्यगण ने) द्रविणो दा (धनैश्वर्य प्रदान करने वाले) अग्नि (अग्नि प्रजापति को) धारयन् (अपना आराधना-देव धारण कर लिया) ।

प्रस्तुत सूक्त ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसमें प्रथम तो भगवान वृषभ की स्तुति में गाये जाने वाले ऋक्, यजु, साम एवं

Gopuram Images

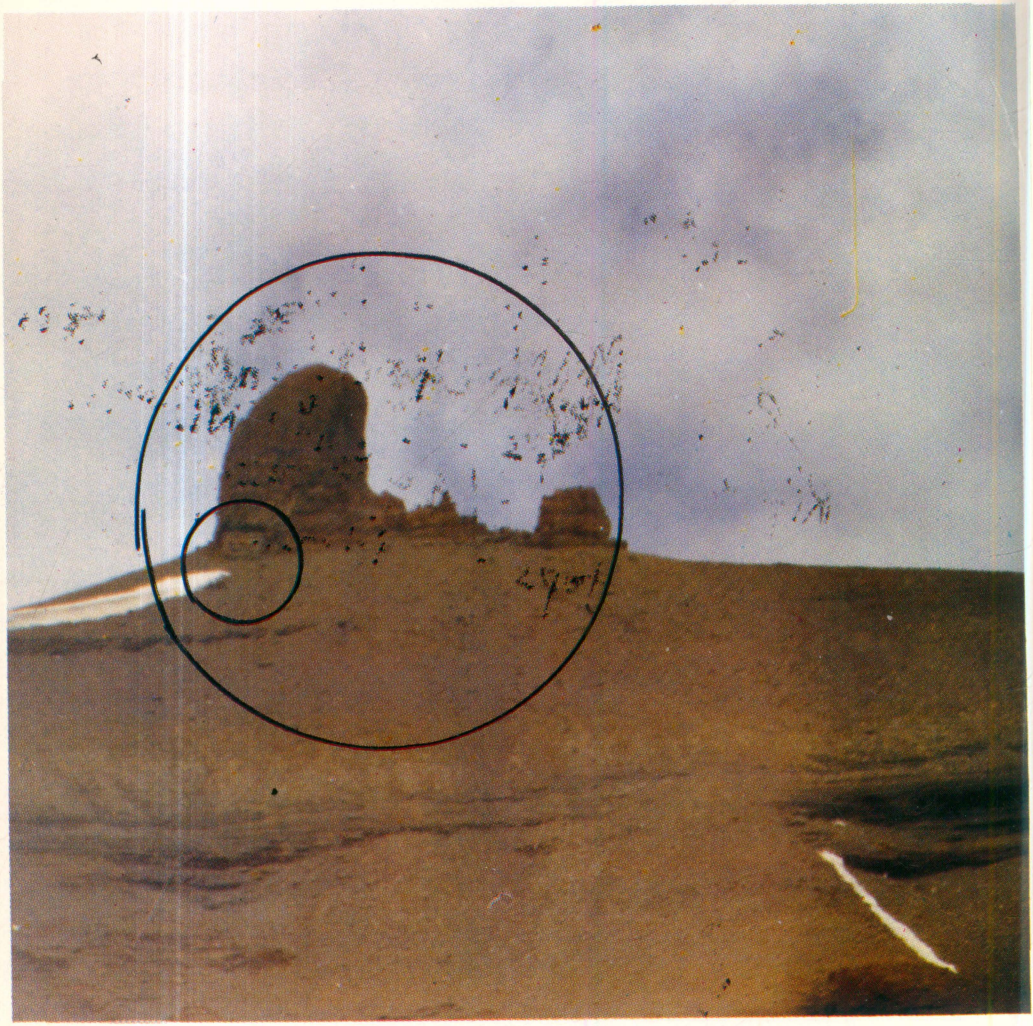

Outer circle : Temple Complex
Inner : Inscribed

अथर्व संहिताओं में संकलित स्तोत्रों से भी प्राचीन उन निविद अथवा निगद स्तोत्रों का उल्लेख है, जिनसे ध्वनित होता है कि भगवान वृषभ आर्यगण के आने से पूर्व ही भारत के आराध्यदेव थे, इसके अतिरिक्त इस सूक्त में भगवान वृषभ द्वारा मनुओं की सन्तानीय प्रजा को अनेक विद्याओं से समृद्ध करने, अपने पुत्र भरत को राज्यभार सौंपने तथा अपने अन्य पुत्र वृषभसेन को, जैन मान्यता के अनुसार भगवान के ज्येष्ठ गणधर अथवा मानसपुत्र थे, ब्रह्मविद्या देने का भी उल्लेख है। इस सूक्त के निम्नांकित प्रथम चार मंत्रों से उल्लिखित तत्थों की स्पष्टतः संपुष्टि होती है।

'अपश्चमित्र' (जो संसार का मित्र है।) धिपणा च साधन (जो ध्यान द्वारा साध्य है), प्रत्नथा (जो पुरातन है), सहसा जायमानः (जो स्वयंभू है) सद्यः काव्यानि षडधन्त विश्वा (जो निरन्तर विभिन्न काव्य स्तोत्रों को धारण करता रहता है, अर्थात् जिसकी सभी जन स्तुति करते रहते हैं), देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम् (देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि को धारण कर लिया।)[१७]

पूर्वया निविदा काव्यतासोः (जो प्राचीन निविदों द्वारा स्तुति किया जाता है), यमाः प्रजा अजन्यन् मनुनाम् (जिसने मनुओं की सन्तानीय प्रजा की व्यवस्था की) विवस्वता चक्षुषा द्याम पञ्च (जो अपने ज्ञान द्वारा द्यु और पृथ्वी को व्याप्त किए हुए हैं, देवों ने उस द्रव्यदाता को धारण कर लिया।)[१८]

तमीडेत महासंघ (तुम उसकी स्तुति करो जो सर्वप्रथम मोक्ष का साधक है), अर्हतं (सर्वपूज्य) है, आरीविशः उज्जः भृञ्जसानम् (जिसने स्वयं शरण में आने वाली प्रजा को बल से समृद्ध करके), पुत्रं भरतं सम्प्रदानुं (अपने पुत्र भरत को सौंप दिया), देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्नि देवता को) धारयन् (धारण कर लिया।)[१९]

स मातरिश्वा (वह वायु के समान निर्लेप और स्वतन्त्र है), पुरूवार पुष्टि (अभीष्ट वस्तुओं का पुष्टिकारक साधन है), उसने स्वर्वितं (ज्ञान सम्पन्न होकर), तनयाय (पुत्र के लिए) गातं (विद्या), विदद (देदी), वह विशांगोपा (प्रजाओं का संरक्षक है,) पवितारोदस्योः (अभ्युदय

तथा निःश्रेयस का उत्पादक है), देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्रनेता को) ग्रहण कर लिया ।[२०]

निर्वाण की पुण्य वेला में जब आदि प्रजापति वृषभ ने विनश्वर शरीर का त्याग करके सिद्ध लोक को प्रस्थान किया तो उनके परम प्रशान्त रूप को आत्मसात करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन के लिए उनके वीतराग रूप की एकमात्र संस्मारक बनकर रह गई। जनता अब अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य के दर्शन पाने लगी । उस समय मूर्तिकला का विकास नहीं हुआ था, अतः यह सप्तजिह्वा अग्नि ही उस महामानव का प्रतीक बन गई । उपलब्ध प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि भगवान के प्रति जन-जन के हृदयों में स्वभावतः उद्दीप्त होने वाले भक्तिभाव को सन्तुष्ट एवं संतृप्त करने के लिए उनके ज्येष्ठ गणधर (मानस पुत्र) ने इस भौतिक अग्नि द्वारा आदि ब्रह्मा वृषभ के उपासनार्थ इज्या, पूजा एवं अर्चना का मार्ग निकाला था । वह याज्ञिक प्रक्रिया के प्रथम विधायक थे ।[२१] उन्होंने ही लोकमंगल के लिये अभीष्टसिद्धि, अनिष्टपरिहार एवं रोग-निवृत्तिकर आदि अनेक उपयोगी मन्त्र-तन्त्र विद्याओं का सर्वप्रथम प्रकाश किया था । वह वैदिक परम्परा में ज्येष्ठ अथर्वन और जैन परम्परा में ज्येष्ठ गणधर के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैन परम्परा के अनुसार यह भगवान वृषभदेव के पुत्र वृषभसेन थे । भगवान ने इन्हें ही समस्त विद्याओं में प्रधान ब्रह्मविद्या देकर लोक में अपना उत्तराधिकारी बनाया था ।[२२]

इनके द्वारा तथा अन्य अथर्वनों (गणधरों) द्वारा प्रतिपादित अनेक तान्त्रिक विधानों तथा वृषभ के हिरण्यगर्भ, जातवेदस् जन्य उग्र तपस्या, सर्वज्ञता देशना, सिद्धलोकप्राप्ति सम्बन्धी अनेक रहस्यपूर्ण वार्ताओं तथा यतिव्रात्य श्रमणों की आध्यात्मिक चर्चा का संकलन चौथे वेद में हुआ है । अतः इसकी प्रसिद्धि अथर्ववेद के नाम से हुई ।

अथर्वन द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार अग्नि में हव्य द्रव्य की आहुति देकर सर्वप्रथम वृषभ की पूजा उनके ज्येष्ठपुत्र तथा भारत में आदि चक्रवर्ती भरत महाराज, जो मनु के नाम से भी प्रसिद्ध थे, ने की थी । इसके पश्चात् उनका अनुकरण करते हुए समस्त प्रजाजन

भगवान वृषभदेव के प्रतीक रूप में अग्नि की पूजा में प्रवृत्त हुए।[२३]

उक्त प्रक्रिया के अनुसार यह पूजा प्रातः मध्याह्न और सायं तीनों काल होती थी। अथर्ववेद अनड्वान सूक्त में इस पूजा का फल बतलाते हुए कहा है कि जो इस प्रकार प्रतिदिन तीनों समय भगवान वृषभ की पूजा करते हैं वे उन्हीं के समान अविनाशी अमरपद के अधिकारी हो जाते हैं।[२४]

प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि अथर्वन द्वारा बतलाई गई याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अज (जौ)[२५] अक्षत (चावंल) तथा घृत-इनका प्रयोग आहुति के लिये किया जाता था और पूजा के समय भगवान वृषभ का सान्निध्य बनाये रखने के लिए 'वषट्' शब्द का और उनके अर्थ आहुति देते समय उन द्वारा घोषित-स्वात्म महिमा को ध्यान में रखने के लिए 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग आवश्यक था। क्योंकि 'वषट्' उच्चारण द्वारा भौतिक अग्नि की स्थापना करते हुए उपासक जन वास्तव में वृषभ भगवान की ही स्थापना करते हैं और 'स्वाहा' शब्द द्वारा भौतिक अग्नि में आहुति देते हुए भी अपनी आत्म-महिमा को ही जागृत करते हैं। 'वषट्' शब्द का उच्चारण किए बिना अग्नि की उपासना भौतिक अग्नि की ही उपासना है।

जैन पूजाग्रन्थों तथा उनके दैनिक पूजा विधानों में वौषट् (इति आह्वाननम्) ठः ठः (इतिस्थापनम्), और वषट् (इति सन्निधीकरणम्)-इन तीन शब्दों द्वारा भगवान का आह्वान, स्थापन तथा सन्निधीकरण किया जाता है। उक्त बीजमन्त्रों के कोष्ठकों में दिए गए अर्थ जैन परम्परा में अत्यन्त प्राचीनकाल से चले आ रहे हैं। जो भगवत्पूजा के लक्ष्य के सम्बन्ध में भी भक्तजन को इस नवीन दृष्टि का दान करते हैं।

इस प्रकार अग्नि द्वारा पूजा-विधि की परम्परा उतनी ही प्राचीन निश्चित होती है जितना भगवान वृषभदेव का काल।

वृषभ के विविधरूप और इतिवृत्त

जैन परम्परा के अनुसार भगवान ऋषभदेव अपने पूर्व जन्म में सर्वार्थसिद्धि विमान में एक महान ऋद्धिधारी देव थे। आयु के अन्त में उन्होंने वहां से च्यवकर अयोध्यानरेश नाभिराय की रानी मरूदेवी के

गर्भ में अवतरण किया। इनके गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही नाभिराय का भवन कुबेर के द्वारा हिरण्य की वृष्टि से भरपूर कर दिया गया। अतः जन्म लेने के पश्चात् वह हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध हुए। गर्भावतार के समय भगवान की माता ने स्वप्न में एक सुन्दर बैल को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा था, अतः इनका नाम वृषभ रक्खा गया। जन्म से ही यह मति, श्रुत, अवधि इन तीनों ज्ञानों से विशिष्ट थे, अतः इनकी जातवेदस नाम से प्रसिद्धि हुई। बिना किसी गुरू की शिक्षा के ही अनेक विद्याओं के ज्ञाता थे, इन्होंने जन्म-मृत्यु से अभिव्याप्त संसार में स्वयं सत्, ऋत, धर्म एवं मोक्षमार्ग का साक्षात्कार किया था, अतः वह स्वयंभू तथा सुकृत नामों से प्रसिद्ध हुए। भोगयुग की समाप्ति पर इन्होंने ही प्रजा को कृषि, पशुपालन तथा विविध शिल्प-उद्योगों की शिक्षा प्रदान की थी, अतः यह विधाता, विश्वकर्मा एवं प्रजापति नामों से विख्यात हुए। ये ही अपनी अन्तःप्रेरणा से संसार-शरीर तथा भोगों से निर्विण्ण हुए तथा संयम एवं स्वाधीनतापथ के पथिक बनकर प्रव्रजित हुए, अतः वशी, यति एवं व्रात्य नामों से प्रसिद्ध हुए।

इन्होंने अपनी उग्र तपस्या, श्रमसहिष्णुता और समवर्तना द्वारा अपने समस्त दोषों को भस्मसात् किया, अतः यह रूद्र, श्रमण आदि संज्ञाओं से विख्यात हुए। इन्होंने अज्ञानतमस् का विनाश करके अपने अन्तस् में सम्पूर्ण ज्ञान-सूर्य को उदित किया, भव्य जीवों को धार्मिक प्रतिबोध दिया और अन्त में देह त्यागकर सिद्ध लोक में अक्षय पद की प्राप्ति की।

जैन परम्परा में जो वृत्त गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिन्हें लोक-कल्याणी होने से कल्याणक की संज्ञा दी गई है। वैदिक परम्परा में वही (१) हिरण्यगर्भ, (२) जातवेदस्, अग्नि, विश्वकर्मा, प्रजापति, (३) रूद्र, एकरूप, व्रात्य, (४) सूर्य, आदित्य, अर्क, रवि, विवस्वत, ज्येष्ठ, ब्रह्मा वाक्पति, ब्राह्मणस्पति, बृहस्पति, (५) निगूढपरमपद, परमेष्ठीपद, साध्यपद, आदि संज्ञाओं से प्रसिद्ध है।

मध्य एशिया, लघु एशिया, उत्तर पूर्वीय अफ्रीका के सुमेर, बैवीलोनिया, सीरिया, यूनान, अरब, ईरान, मिश्र, यूथोपिया आदि संसार के समस्त प्राचीन देशों में जहाँ भी पणि अथवा फणि और पुरू लोगों के विस्तार के साथ भारत से भगवान वृषभ की श्रुतियां, सूक्तियाँ और आख्यान पहुंचे हैं ।[२६] वहां भगवान अशुर (असुर), ओसोरिस (असुरशि) अहुरमज्द (असुरमहत्), ईस्टर (ईषतर), जहोव (यह्व महान), गौड (गौर गौड) अल्ला (ईड्य स्तुत्य), I A M (अहमस्मि), सूर्यस् (सूर्य), रवि, मिथ (मित्र) वरूण आदि अनेक लोक-प्रसिद्ध नामों और विशेषणों द्वारा आराध्यदेव ग्रहण कर लिये गए । यही कारण है कि इन देशों के प्राचीन आराध्यदेव सम्बन्धी जो रहस्यपूर्ण आख्यान परम्परागत सुरक्षित हैं, उनमें उपर्युक्त चार वृत्त "1. In Carnation. 2. Suffering and Crucification. 3. Ressurrection. 4. Ascent to Heaven. के नाम से प्रसिद्ध है । इस प्रकार उन सूक्तों और मन्त्रों के अतिरिक्त जिनमें स्पष्टतः ऋषभ वृषभ, गौर तथा अनड्वान का उल्लेख है, ऋक्, यजु, साम तीनों ही संहिताओं के प्रायः समस्त छन्द, जिनमें उपर्युक्त संज्ञाओं और विशेषणों से स्तुति की गयी है, भगवान वृषभ की ओर ही संकेत करते हैं ।

अथर्वदेव के इस तथ्य को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आपः (जल), वातः (वायु) और औषधि (वनस्पति)–तीनों एक ही भवन (पृथ्वी) के आश्रित हैं, उसी प्रकार ऋक्, यजु, साम–तीनों प्रकार के छन्दों की कविजन पुरस्यं दर्शतं विश्व चक्षणन् (बहुरूप दिखलाई देने वाले एक विश्ववेदस् सहस्राक्ष, सर्बज्ञ को लक्ष्य रखकर ही वियेतिरे (व्याख्या करते हैं) ।[२७]

ऋग्वेद के निम्नांकित दो मन्त्रों में हम भगवान वृषभदेव के तथोक्त रूपों एवं वृत्तों का वैसा ही इतिहास-क्रमानुसार वर्णन देख सकते हैं, जैसा कि जैन परम्परा विधान करती है । वे मन्त्र निम्न प्रकार हैं :[२८]

"दिवस्परि प्रथम जज्ञे अग्निरूपं द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नूमणा अजस्त्रमिंधान एवं जाते स्वाधीः ॥"

अर्थात् अग्नि प्रजापति पहले देवलोक में प्रकट हुए, द्वितीय बार हमारे बीच जन्मत: ज्ञान-सम्पन्न होकर प्रकट हुए। तीसरा इनका वह स्वाधीन एवं आत्मवान् रूप है, जब इन्होंने भव-सागर में रहते हुए निर्मल वृत्ति से समस्त कर्मेन्धन को जला दिया। तथा–

"विद्या ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्या ते धाम विभृता पुरूत्रा।
विद्या ते नाम परम गुहा यद्विद्या तमुत्सं यत आजगंथ॥"[२९]

अर्थात् हे अग्रनेता, हम तेरे इन तीन प्रकार के तीन रूपों को जानते हैं। इनके अतिरिक्त तेरे पूर्व के बहुत प्रकार से धारण किये हुए रूपों को भी हम जानते हैं। इनके अतिरिक्त तेरा जो निगुढ़ परमधाम है उसको भी हम जानते हैं और उच्च मार्ग को भी हम जानते हैं जिससे तू हमें प्राप्त होता है।

उक्त श्रुति से स्पष्टत: प्रतीत होता है कि ऋग्वेदिक काल में भगवान वृषभ के पूर्व जातक लोक में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

वैदिक रूद्र के विकसित रूप

शतपथ ब्राह्मण[३०] में रूद्र के जो-रूद्र, सर्व पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार– ये नौ नाम हैं, वे अग्निदेव के ही विशेषण उल्लिखित किये गये हैं और 'वृषभदेव तथा वैदिक अग्निदेव' में उपस्थित किये गये विवरण से स्पष्ट है कि भगवान वृषभदेव को ही वैदिक काल में अग्निदेव के नाम से अभिहित किया जाता था। फलत: रूद्र, महादेव, अग्निदेव, पशुपति आदि वृषभदेव के ही नामान्तर हैं।

वैदिक परम्परा में वैदिक रूद्र को ही पौराणिक तथा आधुनिक शिव का विकसित रूप माना जाता है, जबकि जैन परम्परा में भगवान ऋषभदेव को ही शिव उनके मोक्ष-मार्ग को शिवमार्ग तथा मोक्ष को शिवगति कहा गया है। यहाँ रूद्र के उन समस्त क्रम-विकसित रूपों का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

ऋग्वेद में रूद्र मध्यम श्रेणी के देवता हैं। उनकी स्तुति में तीन पूर्ण सूक्त कहे गहे हैं[३१] इसके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त में पहले छह मन्त्र रूद्र की स्तुति में हैं और अन्तिम तीन सोम की स्तुति में।[३२] एक अन्य सूक्त में रूद्र और सोम का साथ स्तवन किया गया है।[३३] अन्य देवताओं की स्तुति में भी जो सूक्त कहे गये हैं, उनमें भी प्राय: रूद्र का उल्लेख

मिलता है, इन सूक्तों में रूद्र के जिस स्वरूप की वर्णना हुई है, उसके अनेक चित्र हैं और उनके विभिन्न प्रतीकों के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न मान्यताएँ हैं । रूद्र का शाब्दिक अर्थ मरूतों के साथ उनका संगमन, उनका वभ्रूवर्ण और सामान्यतः उनका क्रूर स्वरूप इन सबको दृष्टि में रखते हुए कुछ विद्वानों की धारणा है कि रूद्र झंझावात के प्रतीक हैं। जर्मन विद्वान बेबर ने रूद्र के नामपर बल देते हुए अनुमानित किया है कि रुद्र झंझावात के 'रव' का प्रतीक हैं।[३४] डाक्टर मेकडौनल ने रुद्र और अग्नि के साम्य पर दृष्टि रखते हुए कहा कि रुद्र झंझावात का नहीं, अपितु विनाशकारी विद्युत के रूप में झंझावात के विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक है।[३५] श्री भण्डारकर ने भी रुद्र को प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों का ही प्रतीक माना है।[३६] अंग्रेज विद्वान मयूर की भी यही मान्यता है।[३७] विल्सन् ने ऋग्वेद की भूमिका में रुद्र को अग्नि अथवा इन्द्र का ही प्रतीक माना है।[३८] प्रो॰ कीथ ने रुद्र को झंझावात के विनाशकारी रूप का ही प्रतीक माना है, उसके हितकर रूप का नहीं।[३९] इसके अतिरिक्त रुद्र के घातक वाणों का स्मरण करते हुए कुछ विद्वानों ने उन्हें मृत्यु का देवता भी माना है और इसके समर्थन में उन्होंने ऋग्वेद का वह सूक्त प्रस्तुत किया है, जिसमें रुद्र का केशियो के साथ उल्लेख किया गया है ।

रुद्र की एक उपाधि 'कपर्दिन्'[४०] है, जिसका अर्थ है, जटाजूटधारी और एक अन्य उपाधि है 'कल्पलोकिन्',[४१] जिसका अर्थ है, दहकनेवाला। दोनों की सार्थकता रुद्र के केशी तथा अग्निदेव रूप में हो जाती है ।

अपने सौम्य रूपों में रूद्र को 'महाभिषक्' बतलाया गया है, जिसकी औषधियाँ ठंडी और व्याधिनाशक होती हैं, रुद्र सूक्त में रुद्र का सर्वज्ञ वृषभ रूप से उल्लेख किया गया है और कहा गया है।[४२] 'हे विशुद्ध दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ, हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों ।'

इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में कहा है[४३]—'हे मरुतो, तुम्हारी जो निर्मल औषधि है, उस औषधि को हमारे पिता मनु (स्वयं ऋषभनाथ) ने चुना था, वही सुखकर और भयविनाशक औषधि हम चाहते हैं ।'

विशुद्ध आत्म-तत्वज्ञान ही यह औषधि है, जिसे प्राप्तकर रुद्रभक्त संसारजयी और सुखी होने की कामना करता है । प्रस्तुत सूक्त के तृतीय मन्त्र में उसकी जीवन साधना देखिए । वह प्रार्थना करता है ।[४४]

'हे वज्रसंहनन रुद्र, तुम उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों में सर्वाधिक सुशोभित हो, सर्वश्रेष्ठ हो और समस्त बलशालियों में सर्वोत्तम बलशाली हो । तुम मुझे पापों से मुक्त करो और ऐसी कृपा करो, जिससे मैं क्लेशों तथा आक्रमणों से युद्ध करता हुआ विजयी रहूं ।'

एक सूक्त में रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है[४५] और अन्यत्र सोम को वृषभ की उपाधि दी गई है ।[४६] रुद्र को अनेक बार अग्नि कहा गया है[४७] और एक स्थल पर उन्हें "मेघापति" की उपाधि से भी विभूषित किया गया है ।[४८] एक स्थान पर "द्विवर्हा" के रूप में भी उल्लेख किया गया है, जिसका सायण ने अर्थ किया है– अर्थात् जो पृथ्वी तथा आकाश में परिवृद्ध हैं ।[४९]

ऋग्वेद के उत्तरभाग के एक सूक्त में कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया । इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि केशी इस विष (जीवनस्रोत-जल) को उसी प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश को ।[५०] यद्यपि सायण ने केशी का अर्थ सूर्य किया है, परन्तु केशी का शाब्दिक अर्थ जटाधारी होता है और इस सूक्त के तीसरे तथा बाद के मन्त्रों में केशी की तुलना उन मुनियों से की गई है जो अपनी प्राणोपासना द्वारा वायु की गति को रोक लेते हैं और मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (परमानन्द सहित) वायुभाव (अशरीरी वृत्ति) को प्राप्त होते हैं और सांसारिक मर्त्यजनों की जिनका केवल पार्थिव शरीर ही दिखलाई देता है ।[५१]

अथर्ववेद में भी श्री रुद्र का व्याधि विनाश के लिये आह्वान किया गया है ।[५२] कुछ मन्त्रों में रुद्र को 'सहस्त्राक्ष' भी कहा गया है ।[५३] इसी वेद के पन्द्रहवें मण्डल में रुद्र का व्रात्य के साथ उल्लेख किया गया है और सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि 'व्रात्य महादेव बन गया, व्रात्य ईशान बन गया है ।[५४] तथा यह भी लिखा है कि "व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को शिक्षा और प्रेरणा दी ।[५५]

सायण ने वात्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—कंचिद्विद्वित्तमं महाधिकारं पुण्यसीलं विश्वसंमान्यं कर्मपरैब्रह्मिणैर्विद्विष्टं व्रात्य-मनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम् अर्थात् वहाँ उस व्रात्य से मन्तव्य है, जो विद्वानों में उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वपूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते हैं।

इस प्रकार व्रतधारी एवं संयमी होने के कारण ही इन्हें व्रात्य नहीं कहा जाता था, अपितु शतपथ ब्राह्मण के एक उल्लेख से प्रतीत होता है कि वृत्र (अर्थात् ज्ञान द्वारा सब ओर से घेर कर रहने वाला सर्वज्ञ) को अपना इष्टदेव मानने के कारण भी यह जन व्रात्य के नाम से अभिहित किये जाते थे।[५६]

जर्मन विद्वान् डाक्टर हौएर का मत है[५७] कि यह व्रात्यों के योग और ध्यान का अभ्यास था जिसने आर्यों को आकर्षित किया और वैदिक विचारधारा तथा धर्म पर अपना गहरा प्रभाव डाला है। दूसरी ओर श्री एन० एन० घोष अपनी नवीन खोज के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचे हैं[५८] कि प्राचीन वैदिक काल में व्रात्य जाति पूर्वी भारत में एक महान् राजनीतिक शक्ति थी। उस समय वैदिक आर्य एक नये देश में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए लड़ रहे थे और उनको सैन्यबल की अत्याधिक आवश्यकता थी। अतः उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से व्रात्यों को अपने दल में मिला लिया। व्रात्यों को भी संभवतः आर्यों के नैतिक और आध्यात्मिक गुणों ने आकृष्ट किया और वे आर्य जाति के अन्तर्गत होने के लिये तैयार हो गये और फिर इस प्रकार आर्यों से मिल जाने पर उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया। व्रात्य का निरन्तर पूर्व दिशा के साथ सम्बद्ध किया जाना, उसके अनुचरों में 'पंश्चली' और 'मागध' का उल्लेख होना (ये दोनों ही पूर्व देशवासी तथा आर्येतर जाति के हैं), आर्यो से पहले भी भारतवर्ष में अतिविकसित और समृद्ध सभ्यताएँ होने के प्रमाणस्वरूप अधिकारिक सामग्री का मिलना आदि तथ्य श्री एन० एन० घोष के निर्णय की ही पुष्टि करते हैं।

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से तथा लघु एशियाई पुरातत्त्व एवं मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा नगरों की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह बात सुनिश्चित हो चुकी है कि वैदिक आर्यगण लघु एशिया

तथा मध्य एशिया के देशों से होते हुए त्रेता युग के आदि में लगभग ३००० ई पूर्व में इलावत और उत्तर पश्चिम के द्वार से पंजाब में आये थे। उस समय पहले से ही द्राबिड़ लोग गान्धार से विदेह तक तथा पांचाल से दक्षिण के मय देश तक अनेक जातियों में विभक्त होकर विभिन्न जनपदों में निवास कर रहे थे। इनकी सभ्यता पूर्ण विकसित एवं समुन्नत थी एवं शिल्पकला इनके मुख्य व्यवसाय थे। ये जहाजों द्वारा लघु एशिया तथा उत्तरपूर्वीय अफ्रीका के दूरवर्ती देशों के साथ व्यापार करते थे।

ये द्राबिड़ लोग सर्प-चिह्न का टोटका अधिक प्रयोग में लाने के कारण नाग, अहि, सर्प, आदि नामों से विख्यात थे। श्यामवर्ण होने के कारण 'कृष्ण' कहलाते थे। अपनी अप्रतिम प्रतिभाशीलता तथा उच्च आचार-विचार के कारण ये अपने को दास व दस्यु (कान्तिमान) नामों से पुकारते थे। व्रतधारी एवं वृत्त का उपासक होने से व्रात्य तथा समस्त विद्याओं के जानकार होने से द्राबिड़ नाम से प्रसिद्ध थे। संस्कृत का विद्याधर शब्द 'द्रबिड़' शब्द का ही रूपान्तर है। ये अपने इष्टदेव को अर्हत, परमेष्ठी, जिन, शिव एवं ईश्वर के नामों से अभिहित करते थे। जीवनशुद्धि के लिए ये अहिंसा, संयम एवं तपोमार्ग के अनुगामी थे। इनके साधु दिगम्बर होते थे और बड़े बड़े बाल रखते थे। अन्य लोग तपस्या एवं श्रम के साथ साधना करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते थे।[५९]

यजुर्वेद में एक स्थल पर रुद्र का 'किवि'[६०] (ध्वंसक या हानिकर) के रूप में उल्लेख किया गया है और अन्यत्र 'द्रौव्रात्य' शब्द[६१] का प्रयोग किया गया है, भाष्यकर महीधर ने जिसका अर्थ–उच्छृंखल आचरण किया है। इसके अतिरिक्त उनके धनुष तथा तरकस को 'शिव' कहा गया है।[६२] उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तों को मित्र के पथ पर ले चलें, न कि भयंकर समझे जाने वाले अपने पथ पर।[६३] भिषक् रूप में उनका स्मरण किया है और मनुष्य तथा पशुओं के लिये स्वास्थ्यप्रद भेषज देने के लिए भी उनसे प्रार्थना की गई है।[६४] यहाँ रुद्र का 'पशुपति' रूप में भी उल्लेख मिलता है।[६५]

यजुर्वेद के त्र्यम्बक होम[६६] सूक्त में रुद्र के साथ एक स्त्री देवता 'अम्बिका' का भी उल्लेख किया गया है, जो रुद्र की बहिन बतलाई गई है। इन्हें 'कृतिवासा' कहा गया है और मृत्यु से मुक्ति तथा अमृतत्व की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है, उनके विशेष वाहन मूषक का भी उल्लेख किया गया है तथा उन्हें यज्ञभाग देने के पश्चात् 'मूजवत' पर्वत से पार चले जाने का भी अनुरोध किया गया उपलब्ध होता है। मूषक जैसे धरती के नीचे रहने वाले जन्तु से उनका सम्बन्ध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता को पर्वत-कन्दराओं में रहने वाला माना जाता था तथा "मूजवत" पर्वत से परे चले जाने का अनुरोध इस बात का व्यंजक हो सकता है कि इस देवता का वास भारतीय पर्वतों में मांना जाता था। "कृतिवासा" उपाधि से प्रतीत होता है कि उसका अपना चर्म ही उसका वस्त्र था—अर्थात वह दिगम्बर था।

"शतरुद्रिय स्तोत्र"[६७] में रुद्र की स्तुति में ६६ मंत्र हैं, जो रुद्र के यजुर्वेदकालीन रूप के स्पष्ट परिचायक हैं। रुद्र को यहां पहली बार 'शिव'। शिवतर तथा 'शंकर' आदि रूपों में उल्लिखित किया गया है। 'गिरिशंत' 'गिरित्र' 'गिरिशा' 'गिरिचर' 'गिरिशय'—इन नवीन उपाधियों से भी उन्हें विभूषित किया गया है। 'क्षेत्रपति' तथा 'वणिक्' भी निर्दिष्ट किये गये हैं। प्रस्तुत स्तोत्र के बीस से बाईस संख्या तक के मन्त्रों में रुद्र के लिये कतिपय विचित्र उपाधियों का प्रयोग किया गया है, अब तक रुद्र के माहात्म्य का गान करने वाला स्तोता उन्हें इन उपाधियों से विभूषित करता है—स्तेनानां पति (चोरों का अधिराज), वंचक, स्तायूनां पति (ठगों का सरदार), तस्कराणां पति, मुष्णतां पति, विकृन्तानां पति (गलकटों का सरदार) कुलुंचानां पति, आदि। इसके अतिरिक्त इनमें 'सभा' 'सभापति' 'गण' 'गणपति' आदि रुद्र के उपासकों के उल्लेख के साथ 'व्रात', 'व्रातपति' 'तक्षक', रथकार, कुलाल कर्मकार, निषाद, आदि का भी निर्देश किया गया है।

ब्राह्मण ग्रंथों के समय तक रुद्र का पद निश्चित रूप से अन्य देवताओं से ऊँचा हो गया था और वह 'महादेव' कहा जाने लगा था।[६८] जैमनीय ब्राह्मण में कहा गया है[६९] कि देवताओं ने प्राणीमात्र

के कर्मों का अवलोकन करने और धर्म के विरूद्ध आचरण करने वाले का विनाश करने के उद्देश्य से रुद्र की सृष्टि की। रुद्र का यह नैतिक उत्कर्ष ही था, जिसके कारण उनका पद ऊँचा हुआ और जिनके कारण अन्त में रुद्र को परम परमेश्वर माना गया।

श्वेताश्वतर उपनिषद से स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रंथों के समय से रुद्र के पद में कितना उत्कर्ष हो चुका था। इसमें उन्हें सामान्यतः ईश, महेश्वर, शिव और ईशान कहा गया है।[७०] वह मोक्षाभिलाषी योगियों के ध्यान के विषय है और उनको एक सृष्टा, ब्रह्म और परमात्मा माना गया है।[७१] इस काल में वह केवल जन सामान्य के ही देवता नहीं थे। अपितु आर्यों के सबसे प्रगतिशील वर्गों के आराध्यदेव भी बन चुके थे। इस रूप में उनका सम्बन्ध, दार्शनिक विचारधारा और योगाभ्यास के साथ हो गया था, जिसको उपनिषद के ऋषियों ने आध्यात्मिक उन्नति का एक मात्र साधन माना था। अपर वैदिककाल में योगी, चिन्तक और शिक्षक के रूप में जो शिव की कल्पना की गई है, वह भी इसी सम्बन्ध के कारण थी। श्वेताश्वर उपनिषद् में रुद्र को ईश, शिव और पुरुष कहा गया है। लिखा है कि प्रकृति पुरुष अथवा परब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा वह विविध रूप विश्व की सृष्टि करता है।[७२] पुरुष स्वयं सृष्टा नहीं, अपितु एक बार प्रकृति को क्रियाशील बनाकर वह अलग हो जाता है और केवल प्रेक्षक के रूप में काम करता है।[७३] इससे ज्ञात होता है कि इस समय तक रुद्र उन लोगों के आराध्य देव बन गये थे जो सांख्य विचारधारा का विकास कर रहे थे। प्रश्नोपनिषद् में रुद्र को परिरक्षिता कहा गया है और प्रजापति से उसका तादात्म्य प्रकट किया गया है।[७४] मैत्रयणी उपनिषद् में रुद्र की 'शम्भु' (अर्थात् शान्तिदाता) उपाधि का पहली बार उल्लेख हुआ।[७५]

श्रौत-सूत्रों में रुद्र की उपासना का वही स्वरूप उपलब्ध होता है जैसा ब्राह्मण ग्रंथों में। यहाँ रुद्र का रूप केवल एक देवता है और उनके रुद्र, भव, शर्व आदि अनेक नामों का उल्लेख है।[७६] महादेव, पशुपति, भूतपति आदि उपाधियों से भी विभुषित किया गया है।[७७] रुद्र से मनुष्यों और पशुओं की रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है।[७८] उन्हें रोगनाशक औषधियों का दाता[७९] और व्याधिनिवारक[८०] कहा

गया है । गृह्य सूत्रों में रुद्र की समस्त वैदिक उपाधियों का उल्लेख मिलता है,[८१] यद्यपि इनके 'शिव' और शंकर ये नवीन नाम अधिक प्रचलित होते जा रहे हैं ।[८२] यहाँ उन्हें श्मशानों, पुण्य तीर्थों एवं चौराहों जैसे स्थलों में एकान्त विहारी के रूप में चित्रित किया गया है ।[८३]

सिन्धु घाटी के निवासियों का वैदिक आर्यों के साथ संमिश्रण हो जाने पर रुद्र ने सिन्धु घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लिया। इसके फलस्वरूप सिन्धु घाटी की स्त्री देवता का रुद्र की पूर्वसहचरी अम्बिका के साथ तादात्म्य हो गया और उसे रुद्रपत्नी माना जाने लगा। इस प्रकार भारतवर्ष में देवी की उपासना आई और शक्तिमत का सूत्रपात हुआ । इसके अतिरिक्त जननेन्द्रियों सम्बन्धी प्रतीकों की उपासना, जो सिन्धुघाटी के देवताओं की उपासना का एक अंग थी, का भी रुद्र की उपासना में समावेश हो गया । इसके अतिरिक्त 'लिंग' रुद्र का एक विशिष्ट प्रतीक माना जाने लगा और इसी कारण उसकी उपासना भी प्रारम्भ हो गई । परन्तु धीरे धीरे लोग यह भूल गये कि प्रारम्भ में यह एक जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीक था । इस प्रकार भारत में लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ जो शैव धर्म का एक अंग बन गई। दूसरी ओर उपनिषदों से प्रतीत होता है कि रुद्र की उपासना का प्रचार नवीन धार्मिक तथा दार्शनिक विचारधारा के प्रवर्त्तकों में हो रहा था, और ये लोग रुद्र को परब्रह्म मानते थे । सूत्रयुग में रुद्र को 'विनायक' की उपाधि दी गई और यही अपर वैदिक काल में गणेश नाम से प्रसिद्ध हुआ । रुद्र तथा विनायक प्रारम्भ में एक ही देवता के दो रूप थे, परन्तु कालक्रम से यह स्मृति लुप्त हो गई और गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा ।

उपनिषद्कालीन भक्तिवाद ने देश के धार्मिक आचार-विचार में युगान्तर उपस्थित कर दिया । कर्मकाण्ड का स्थान स्तुति, प्रार्थना तथा पूजा ने ले लिया और मन्दिरों के निर्माण के साथ मानवाकार तथा लिंगाकार में रुद्र-मूर्तियों की प्रतिष्ठा तथा पूजा आरम्भ ही गई तथा रुद्र का नाम भी अब शिव के रूप में लोकप्रचलित हो गया ।

पाणिनि के समय में शिव के विकसित स्वरूप के प्रमाण वे सूत्र हैं, जिन्हें 'माहेश्वर'[८४] बतलाया गया है। वैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी में रुद्र, भव और शिव शब्दों का भी उल्लेख मिलता है।[८५]

रामायण में रुद्र के अत्याधिक विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। यहाँ उन्हें मुख्यतः 'शिव' कहा जाता है। महादेव, महेश्वर, शंकर तथा त्र्यम्बक नामों का अधिक उल्लेख मिलता है : यहां उन्हें देवताओं में सर्वश्रेष्ठ देव कहा गया है।[८६] और अमर लोक में भी उनकी उपासना विहित दिखलाई गई है।[८७] एक अन्य स्थल पर उन्हें अमर, अक्षर और अव्यय भी माना गया है।[८८] एक स्थान पर उन्हें हिमालय में योगाभ्यास करते हुए दिखलाया गया है।[८९] रामायण में शिव के साथ देवी की उपासना भी भक्त जन करते हैं। इन दोनों को लेकर जिस उपासनापद्धति का जन्म हुआ, वेदोत्तर काल में वही शैवधर्म का सर्वाधिक प्रचलित रूप बना। रामायण में शिव की 'हर'[९०] तथा वृषभध्वज[९१] इन दो नवीन उपाधियों का भी उल्लेख मिलता है।

महाभारत में शिव को परब्रह्म, असीम, अचिन्त्य, विश्वसृष्टा, महाभूतों का एकमात्र उद्गम, नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है। एक स्थल पर उन्हें सांख्य के नाम से अभिहित किया गया है और अन्यत्र योगियों के परम पुरूष नाम से।[९२] वह स्वयं महायोगी हैं और आत्मा के योग तथा समस्त तपस्याओं के ज्ञाता हैं। एक स्थल पर लिखा है कि शिव को तप और भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है[९३] अनेक स्थलों पर विष्णु के लिए प्रयुक्त की गई योगेश्वर[९४] की उपाधि इस तथ्य की द्योतक है कि विष्णु की उपासना में भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था, और कोई भी मत इसके वर्तमान महत्व की उपेक्षा नहीं कर सकता था।

महाभारत में शिव के एक अन्य नवीन रूप के दर्शन होते हैं और वह है उनका 'कापालिक' स्वरूप। यह स्वरूप मृत्युदेवता वैदिक रुद्र का विकसित रूप मालूम देता है। यहां उनकी आकृति भक्तिवाद के आराध्यदेव शिव की सौम्य आकृति के सर्वथा विपरीत एवं भयावह है वह हाथ में कपाल लिये हैं[९५] और लोकवर्जित श्मशान प्रदेश उनका

प्रिय आवास है जहाँ वह राक्षसों, वेतालों, पिशाचों और इसी प्रकार के अन्य जीवों के साथ विहार करते हैं[९६] उनके गण को 'नक्तंचर' तथा 'पिशिताशन' कहा गया है।[९७] एक स्थल पर स्वयं शिव को मांस भक्षण करते हुए तथा रक्त एवं मज्जा का पान करते हुए उल्लिखित किया गया है।[९८]

अश्वघोष के बुद्धचरित में शिव का 'वृषध्वज' तथा 'भव' के रूप में उल्लेख हुआ है,[९९] भारतीय नाट्यशास्त्र में शिव को 'परमेश्वर' कहा गया है।[१००] उनकी 'त्रिनेत्र' 'वृषांक' तथा 'नटराज' उपाधियों की चर्चा है।[१०१] वह नृत्यकला के महान् आचार्य हैं और उन्होंने ही नाट्यकला को 'ताण्डव' दिया। वह इस समय तक महान् योगाचार्य के रूप में ख्यात हो चुके थे तथा इसमें कहा गया है कि उन्होंने ही 'भरतपुत्रों' को सिद्धि सिखाई।[१०२] अन्त में शिव के त्रिपुरध्वंस का भी उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक एक 'डिम' (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था।[१०३]

पुराणों में शिव का पद बड़ा ही महत्वपूर्ण हो गया है। यहाँ वह दार्शनिकों के ब्रह्म हैं, आत्मा हैं, असीम हैं और शाश्वत हैं।[१०४] वह एक आदि पुरूष हैं, परम सत्य हैं तथा उपनिषदों एवं वेदान्त में उनकी ही महिमा का गान किया गया है।[१०५] बुद्धिमान और मोक्षाभिलाषी इन्हीं का ध्यान करते हैं।[१०६] वह सर्व हैं, विश्वव्यापी हैं, चराचर के स्वामी हैं तथा समस्त प्राणियों में आत्मरूप से बसते हैं।[१०७] वह एक स्वयंभू हैं तथा विश्व का सृजन, पालन एवं संहार करने के कारण तीन रूप धारण करते हैं।[१०८] उन्हें 'महायोगी',[१०९] तथा योगविद्या का प्रमुख माना जाता है।[११०] सौर[१११] तथा वायु पुराण[११२] में शिव की एक विशेष योगिक उपासना विधि का नाम माहेश्वर योग है। इन्हें इस रूप में 'यंती',[११३] 'आत्म-संयमी' 'ब्रह्मचारी'[११४] तथा 'ऊर्ध्वरिता:'[११५] भी कहा गया है। शिवपुराण में शिव का आदि तीर्थंकर वृषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख है।[११६] प्रभासपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है।[११७]

विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के मंगलाचरण के प्रसंग में एक जिनेन्द्र रूद्राष्टक का उल्लेख हुआ है, यद्यपि इसे अष्टक कहा गया है परन्तु पद्य सात ही हैं। इसमें जिनेन्द्र भगवान का रुद्र के रूप में स्तवन किया गया है। बताया गया है कि जिनेन्द्र रुद्र पाप रूपी अन्धकासुर के विनाशक हैं, काम, लोभ एवं मोहरूपी त्रिपुर के दाहक हैं, उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है, संयमरूपी वृषभ पर वह आरूढ़ हैं, संसार रूपी करी (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं, निर्मल बुद्धिरूपी चन्द्ररेखा से अलंकृत हैं, शुद्धभावरूपी कपाल से सम्पन्न हैं, व्रतरूपी स्थिर पर्वत (कैलाश) पर निवास करने वाले हैं, गुण-गुण रूपी मानव-मुण्डों के मालाधारी हैं, दस धर्मरूपी खट्वांग से युक्त हैं, तपःकीर्ति रूपी गौरी से मण्डित हैं, सात भय रूपी उद्दाम डमरू को बजानेवाले हैं, अर्थात् वह सर्वथा भीतिरहित हैं, मनोगुप्ति रूपी सर्प परिकर से वेष्टित हैं, निरन्तर सत्यवाणी रूपी विकट जटा-कलाप से मण्डित हैं। तथा हुंकार मात्र से भय का विनाश करने वाले हैं।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धबला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में उल्लेख किया है और कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जिन्होंने मोह रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विशाल अज्ञानरूपी पारावार से उत्तीर्ण हो चुके हैं। जिन्होंने विध्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो सम्पूर्ण बाधाओं से निर्मुक्त हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रभाव को दलित कर दिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग द्वेष को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो दिगम्बर मुनिव्रती अथवा मुनियों के पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोह रूपी अन्धकासुर के कबन्धवृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मरूप को प्राप्त कर लिया है और दुर्नय का अन्त कर दिया है।

पउमचरिउ में उल्लिखित 'रुद्रष्टक' इस तथ्य का द्योतक है कि इस रचना के समय तक वैदिककालीन रुद्र ने कापालिक एवं पौराणिक युग के लोकप्रचलित स्वरूप को अंगीकार कर लिया था जिसका जैन परम्परानुरूपी समन्वय उक्त 'अष्टक' के रचयिता ने अपनी रचना में

Outer Wall

Bevelled marble ‘asan’

करके अपनी परम्परागत रुद्रभक्ति का परिचय दिया। वीरसेन स्वामी द्वारा अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में किया गया चित्रण भी इसी तथ्य की ओर इङ्गित करता है।

स्वयं महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने महापुराण में एक स्थल पर भगवान् बृषभदेव के लिए रुद्र की ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी त्रिमूर्ति से सम्बन्धित अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है। भगवान् का यह एक संस्तवन है, जिसे उनके केवल ज्ञान होने के पश्चात् सौधर्म तथा ईशान इन्द्र ने प्रस्तुत किया है। स्तवन में भगवान् की जय मनाते हुए कहा गया है कि वह दुर्भथ कामदेव का मन्थन करने वाले हैं, दोष-रोष रूपी मांस के लिए अग्नि के समान हैं, सम्पूर्ण विशुद्ध केवल ज्ञान के आवास हैं, और मिथ्या मार्ग से सन्मार्ग प्राप्ति के विधारक हैं। वह कंकाल, त्रिशूल, मनुष्य, कपाल, विषधर तथा स्त्री से रहित हैं, शान्त हैं, शिव हैं, अहिंसक हैं राजन्यवर्ग उनके चरणों की पूजा करता है। परोपकारी हैं, भीति दूर करने वाले हैं, परन्तु अपने अन्तरंग रिपुवर्ग के लिए भयंकर हैं, वामाविमुक्त (स्त्री रहित) हैं, परन्तु स्वयं संसार के लिए वाम (प्रतिकूल) हैं, त्रिपुरहारी (जन्म जरा मृत्यु) अथवा मिथ्यादर्शन, ज्ञान चारित्र रूपी त्रिपुर के विनाशक हैं, हर हैं, धैर्यशाली हैं, निर्मल स्वयं बुद्ध रूप से सम्पन्न हैं, स्वयंभू हैं, सर्वज्ञ हैं, सुख तथा शान्तिकारी शंकर हैं, चन्द्रधर हैं, सूर्य हैं, रुद्र हैं, उग्र तपस्वियों में अग्रगामी हैं, संसार के स्वामी हैं, तथा उसे उपशान्त करने वाले हैं, महादेव हैं, महान गुणगणों से यशस्वी हैं, महाकाल हैं, प्रलयकाल के लिए उग्रकाल हैं, गणेश (गणधरों के स्वामी) हैं, गणपतियों (बृषभसेन आदि गणधरों) के जनक हैं, ब्रह्म हैं, ब्रह्मचारी हैं, वेदांगवादी (सिद्धान्तवादी) हैं, कमल योनि हैं, पृथ्वी का उद्धार करने वाले आदि वराह हैं, सुवर्ण वृष्टि के साथ गर्भ में अवतीर्ण हुए हैं, दुर्भय के निवारक हैं, हिरण्यगर्भ हैं, (युगसृष्टा हैं) परमानन्दचतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्य) से सुशोभित हैं, अज्ञानान्धकारहारी हैं, दिवसनाथ हैं, यज्ञपुरुष हैं, पशुयज्ञ के विनाशक हैं, ऋषि-सम्मत अहिंसाधर्म के प्रकाशक हैं, माधव, (अन्तरंगवहिरंग लक्ष्मी के स्वामी) हैं, त्रिभुवन के माधवेश हैं, मद्यरूपी मधु को दूषित करनेवाले मधुसूदन हैं, लोकद्रष्टा

परमात्मा हैं, गोवर्द्धन (ज्ञानवर्धक) हैं, केशव हैं और परमहंस हैं। इन्द्र कहते हैं–भगवान को संसार में केशव कहा जाता है जो रागी हो (य:केशेषु रागवान् स 'केशव' जो केशों में अनुरागी हो उसे केशब कहते हैं), परन्तु तुम तो वीतरागी हो, अत: तुम्हारे अन्दर वह केशवत्व कैसे आ सकता है ? केशव के अन्य प्रश्नमूलक शाब्दिक तात्पर्य को लेकर इन्द्र कहते हैं–भगवत्, वास्तव में वे जड़ हैं जो तुम्हारा उपहास करते हैं और ऐसे जन का नरक-वास ही निश्चित है। भगवत् तुम काश्यप हो, जड़-आचार से विहीन हो, एकाग्रचिन्तानिरोधपूर्वक ध्यानी हो, आकाश, अग्नि, चन्द्र, सूर्य यजमान, पृथ्वी, पवन, सलिल–इन आठ शरीरों का युक्त महेश्वर हो, परमौदारिक शरीर से युक्त हो। कलिकाल के समस्त पाप-पंक से मुक्त हो, सिद्ध हो, बुद्ध हो, शुद्धोदनि हो, सुगत हो, कुमार्गनाशक हो, बैकुण्ठवासी विष्णु हो, दामोदर हो तथा परवादियों की वासना को नष्ट करने वाले हो।

महाकवि पुष्पदन्त के उल्लिखित संस्तवन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भगवान् बृषभदेव के रूप में ही शिवके त्रिमूर्तिरूप तथा बुद्ध रूप को भी समन्वित कर लिया गया है। यद्यपि समन्वय क्रिया पुष्पदन्त द्वारा जैन दृष्टि को सम्मुख रखकर की गई है, परन्तु प्रतीत होता है कि तत्कालीन लोकप्रचलित शिव के एकेश्वरत्व ने भी अंशत: उनके मस्तिष्क पर अवश्य प्रभाव डाला है। पुष्पदन्त का युग जैन धर्म के उत्कर्ष तथा धार्मिक सहिष्णुता का युग था। खजुराहो के १००० ई० के शिलालेख नम्बर ५ में शिव का 'एकेश्वर' रूप में तथा 'विष्णु' 'बुद्ध' और 'जिन' का उन्हीं के अवतारों के रूप में उल्लेख किया जाना इसी तथ्य को पुष्ट करता है। यद्यपि इससे पूर्व पौराणिक काल में धार्मिक संघर्ष ने उग्ररूप धारण किया और चार्वाक, कौल तथा कापालिकों के साथ बौद्ध और जैनों को भी विधर्मी माना गया।

वृषभ तथा शिव-ऐक्य के अन्य साक्ष्य

कतिपय अन्य लोकमान्य साक्ष्य भी वृषभ तथा शिव–दोनों के ऐक्य के समर्थक हैं जो निम्न प्रकार हैं।

शिवरात्रि तथा कैलाश

वैदिक मान्यता के अनुसार शिव कैलाशवासी हैं और उनसे सम्बन्धित शिवरात्रि पर्व का वहाँ बड़ा महत्व है ।

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् आर्यावर्त्त के समस्त देशों में विहार किया, भव्य जीवों को धार्मिक देशना दी और आयु के अन्त में अष्टापद (कैलाश पर्वत) पहुंचे । वहाँ पहुंचकर योगनिरोध किया और शेष कर्मो का क्षय करके माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन अक्षय शिवगति (मोक्ष) प्राप्त की ।

भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद (कैलाश) में जिस दिन शिवगति प्राप्त की उस दिन समस्त साधु-संघ ने दिन को उपवास तथा रात्रि को जागरण करके शिवगति प्राप्त भगवान् की आराधना की, जिसके फलस्वरूप यह तिथि रात्रि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

उत्तर प्रान्तीय जैनेतर वर्ग में प्रस्तुत शिवरात्रि पर्व फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को माना जाता है । उत्तर तथा दक्षिण देशीय पंचागों में मौलिक भेद इसका मूल कारण है । उत्तरप्रान्त में मास का आरम्भ कृष्ण-पक्ष से माना जाता है और दक्षिण में शुक्ल-पक्ष से । प्राचीन मान्यता भी यही है । जैनेतर साहित्य में चतुर्दशी के दिन ही शिवरात्रि का उल्लेख मिलता है । ईशान संहिता में लिखा है–

माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि ।
शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः ।
तत्काल व्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिवते तिथिः ।

प्रस्तुत उद्धरण में जहाँ इस तथ्य का संकेत है कि माघकृष्णा चतुर्दशी को ही शिवरात्रि मान्य किया जाना चाहिए, वहाँ उसकी मान्यतामूलक ऐतिहासिक कारण का भी निर्देश है कि उक्त तिथि की महानिशा में कोटि सूर्य प्रभोपम भगवान् आदिदेव (वृषभनाथ) शिवरात्रि प्राप्त हो जाने से 'शिव' इस लिंग (चिह्न) से प्रकट हुए–अर्थात् जो शिव पद प्राप्त होने से पहले 'आदिदेव' कहे जाते थे, वे अब शिव पद प्राप्त हो जाने से 'शिव' कहलाने लगे ।

उत्तर तथा दक्षिण प्रान्त की यह विभिन्नता केवल कृष्ण-पक्ष मे ही रहती है, पर शुक्ल-पक्ष के सम्बन्ध में दोनों ही एक मत है। जब उत्तर भारत में फाल्गुन कृष्णपक्ष चालू होगा तब दक्षिण भारत का वह माघ कृष्ण-पक्ष कहा जायगा। जैनपुराणों के प्रणेता प्राय दक्षिण भारतीय जैनाचार्य रहे हैं, अतः उनके द्वारा उल्लिखित माघकृष्ण चतुर्दशी उत्तर भारतीय जन की फाल्गुन कृष्णा-चतुर्दशी ही हो जाती है। कालमाधवीय नागर खण्ड में प्रस्तुत मासवैषम्य का निम्न प्रकार समन्वय किया गया है।

'माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता।'

अर्थात् दक्षिणात्य जन के माघ मास के शेष अथवा अन्तिम पक्ष की और उत्तरप्रांतीय जन के फाल्गुन के प्रथम मास की कृष्ण चतुर्दशी 'शिवरात्रि' कही गई है।

गंगावतरण

उत्तरवैदिक मान्यता के अनुसार जब गंगा आकाश से अवतीर्ण हुई तो दीर्घकाल तक शिवजी के जटा-जूट में भ्रमण करती रही और उसके पश्चात् वह भूतल पर अवतरित हुई। यह एक रूपक है, जिसका वास्तविक रहस्य यह है कि जब शिव अर्थात् भगवान ऋषभदेव को असर्वज्ञदशा में जिस स्वंसवित्तिरूपी ज्ञान-गंगा की प्राप्ति हुई उसकी धारा दीर्घकाल तक उनके मस्तिष्क में प्रवाहित होती रही और उनके सर्वज्ञ होने के पश्चात् यही धारा उनकी दिव्य वाणी के मार्ग से प्रकट होकर संसार के उद्धार के लिए बाहर आई तथा इस प्रकार समस्त आर्यावर्त को पवित्र एवं आप्लावित कर दिया।

गंगावतरण जैन परम्परानुसार एक अन्य घटना का भी स्मारक है। वह यह है कि जैन भोगोलिक मान्यता में गंगानदी हिमवान् पर्वत के पद्मनामक सरोवर से निकलती है। वहां से निकलकर वह कुछ दूर तक तो ऊपर ही पूर्वदिशा की ओर बहती है, फिर दक्षिण की ओर मुड़कर जहां भूतल पर अवतीर्ण होती है, वहाँ पर नीचे गंगाकूट में एक विस्तृत चबूतरे पर आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ की जटाजूट वाली अनेक वज्रमयी प्रतिमाएँ अवस्थित हैं, जिन पर हिमवान् पर्वत के ऊपर

से गंगा की धारा गिरती है। विक्रम की चतुर्थ शताब्दी के महान् जैन आचार्य यतिवृषभ ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति में प्रस्तुत गंगावतरण का इस प्रकार वर्णन किया है :

'आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जढ-मउढ-सेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पढदि।'

अर्थात् गंगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से शोभित आदि जिनेन्द्र (वृषभनाथ भगवान्) की प्रतिमाएँ हैं। प्रतीत होता है कि उन प्रतिमाओं का अभिषेक करने की अभिलाषा से ही गंगा उनके ऊपर गिरती है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी प्रस्तुत गंगावतरण की घटना का निम्न प्रकार चित्रण किया है :

'सिरिगिहसीसट्ठियंबुजकण्णियसिंहासणं जडामएलं।
जिणमभिसिक्खमणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा।'

अर्थात् श्री देवी के गृह के शीर्ष पर स्थित कमल की कर्णिका के ऊपर सिंहासन पर विराजमान जो जटारूप मुकुट वाली जिनमूर्ति है, उसका अभिषेक करने के लिए ही मानों गंगा उस मूर्ति के मस्तक पर हिमवान् पर्वत से अवतीर्ण हुई है।

त्रिशूल

वैदिक परम्परा में शिव को त्रिशूलधारी बतलाया गया है तथा त्रिशूलांकित शिवमूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। जैनपरम्परा में भी अर्हन्त की मूर्तियों को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) के प्रतीकात्मक त्रिशूलांकित त्रिशूल से सम्पन्न दिखलाया गया है। आचार्य वीरसेन ने एक गाथा में त्रिशूलांकित अर्हन्तों को नमस्कार किया है। सिन्धु उपत्यका से प्राप्त मुद्रओं पर भी कुछ ऐसे योगियों की मूर्तियाँ अंकित हैं, जिनके शिर पर त्रिशूल हैं और कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानावस्थित हैं, कुछ मूर्त्तियाँ वृषभचिह्न से अंकित हैं। मूर्त्तियों के ये दोनों रूप महान् योगी वृषभदेव से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त खण्डगिरि की जैन गुफाओं (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में तथा मथुरा के कुशानकालीन जैन आयागपट्ट आदि में भी त्रिशूलचिह्न का उल्लेख मिलता है। डा. रोठ ने इस त्रिशूल चिह्न तथा मोहनजोदड़ो की मुद्राओं पर अंकित त्रिशूल में आत्यन्तिक सादृश्य दिखलाया है।

ब्राह्मी लिपि तथा माहेश्वर सूत्र

जैसी कि जैन मान्यता है तथा पहले हमने महापुराण की पाँचवीं संधि में देखा कि भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत आदि को सम्पूर्ण कलाओं में पारंगत किया और अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिविद्या (अक्षर विद्या) तथा सुन्दरी को अंकविद्या सिखलाई। भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी लिपि है। जैन परम्परा में तथा उपनिषद् में भी भगवान् ऋषभदेव को आदि ब्रह्मा कहा गया है, अतः ब्रह्मा से आई हुई लिपि ब्राह्मी कहलाई जा सकती है तथा ब्राह्मी से सम्बन्धित लिपि का नाम भी ब्राह्मी हो सकता है।

दूसरी ओर पाणिनि ने अइउण् आदि सूत्रों (सूत्रबद्ध वर्णमाला) को 'माहेश्वर' बतलाया है जिसका अर्थ है महेश्वर से आए हुए वैदिक परम्परा में जहाँ शिव को महेश्वर कहा गया है, वहाँ जैन परम्परा में भगवान् ऋषभदेव ही महेश्वर अथवा ब्रह्मा (प्रजापति) हैं। इस प्रकार वृषभदेव द्वारा ब्राह्मी पुत्री को सिखाई गयी ब्राह्मीलिपि की अक्षर विद्या तथा माहेश्वर सूत्रबद्ध वर्णमाला दोनों में जहाँ स्वरूपतः ऐक्य है वहाँ यह ऐक्य ही दोनों के प्रवर्तक सम्बन्धी ऐक्य को इंगित करता है।

वृषभ (बैल) का योग

वैदिक परम्परा में शिव का वाहन वृषभ (बैल) बतलाया गया है। जैन मान्यतानुसार भगवान् वृषभदेव का चिह्न बैल है। गर्भ में अवतरित होने के समय इनकी माता मरूदेवी ने स्वप्न में एक वरिष्ठ वृषभ को अपने मुख-कमल में प्रवेश करते हुए देखा था, अतः इनका नाम वृषभ रक्खा गया। सिन्धुघाटी में प्राप्त वृषभांकित मूर्तियुक्त मुद्राएँ तथा वैदिक युक्तियाँ भी वृषभांकित वृषभदेव के अस्तित्व की समर्थक हैं। इस प्रकार वृषभ का योग भी शिव तथा वृषभदेव के ऐक्य को सम्पुष्ट करता है।

भगवान् वृषभदेव तथा शिव दोनों का जटाजूटयुक्त तथा कपटी रूपचित्रण भी इनके ऐक्य का समर्थक हैं। भगवान् वृषभदेव के दीक्षा लेने के पश्चात् तथा आहार लेने के पूर्व एक वर्ष के साधक जीवन में उनके केश बहुत बढ गए, फलत उनके इस तपस्वी जीवन की स्मृति में ही जटाजूटयुक्त मूर्त्तियों का निर्माण प्रचलित हुआ।

१. श्रीमद् भागवत ५, २-६ ।
२. 'बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः 'प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरूदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानं ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुदावततारः ।' –श्रीमद् भागवत पञ्चम स्कन्ध ।
३. शिवपुराण, ७, २, ९ ।
४. भज्झिमनिकाय, ४० ।
५. ऋग्वेद, १०, १३६, १ ।
६. ऋग्वेद, १०, १३६, १ ।
७. राजस्थान के उदयपुर जिले का एक तीर्थ 'केशरिया तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं वैष्णव आदि सम्प्रदाय वालों को समान रूप से मान्य एवं पूजनीय है तथा जिसमें भ० ऋषभदेव की एक अत्यन्त प्राचीन सातिशय मूर्ति प्रतिष्ठित है ।
८. ऋग्वेद, १०, १०२, ६ ।
९. देखो डा० हीरालाल जैन का 'आदि तीर्थंकर की प्राचीनता तथा उनके धर्म की विशेषता'' शीर्षक लेख (अहिंसावाणी। वर्ष ७, अंक १-२, १९५७)।
१०. ऋग्वेद, ११, ११२, अथर्व० ९, ४, ३ ऋग्वेद, १, १८९, १ ।
'यो वै रूद्रःमोऽशिनः'- शतपथब्राह्मण ५, २, ४, १३ ।
११. (अ) 'तान्त्येताः...यष्टौ रूद्रः शर्व पशुपोतः उग्रः अशनिः भवः महादेवः ईषानः अग्निरूपाणि कुमारो नवम्' वही ६, १, ३, १८ ।
(आ) 'एतानि वै तेषामग्रोनां नामानि यद्भूवपतिः भुवनपतिर्भूतानां पतिः' वही, १, ३, ३, १९ ।
१२. अग्निवार्थः । वही, २, ५, १, ४ ।
१३. 'अग्निर्वे देवानाम् भवोको विष्णुपरम्' कौतूस्य ब्राह्मण, ७, १ ।
१४. अथर्व, ९, ४, ३ ।
१५. (अ) सयदस्य सर्वस्याग्रमस्सज्यत तस्माद्ग्रिरग्रिहं वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षय– शतपथ ब्राह्मण, ६, १, १, ११ ।
(आ) 'यद्वा एनमेतदग्रे देवानां अजनयत् तस्मादग्निराग्रर्तवै नामैतदद्यदगिरिति । वही, २, २, ४, २ ।
(इ) खारबेल के शिलालेख (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में भी ऋषभ जिन का उल्लेख अग्ग जिन के रूप में हुआ है (नन्दराजनीतान अगजिनस) ।
(ई) 'प्रजापतिः देवतानः सृज्यमान अगिनमेव देवानां प्रथममसृजत् । तैत्तिरीय ब्राह्मण, २१, ६, ४ ।
(उ) 'अगिनर्व सर्वाद्यम् ।'–ताण्ड्य ब्राह्मण, ५, ९३ ।
१६. 'जना यदगिनमजयन्त पञ्च ।' ऋग्वेद, १०, ४५, ६ ।
१७. ऋग्वेद, १, ९, १ ।
१८. वही, १, ९, २ ।
१९. ऋग्वेद, १, ९, ३ ।
२०. वही, १, ९, ४ ।
२१. (अ) सत्यव्रात सामश्रमी निरत्कालोचन वि० सं० १९५३ पृ० सं० १५५ ।

(आ) A.C. Das– Rigvedic Culture pp. 113-115.
(इ) Dr. Winternitz– History of India Literature Vol I, 1927- p.120.
(ई) 'अग्निजीतो अथर्वना'– ऋग्वेद १०, २१, ५ ।

२२. (अ) ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भूवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
मण्डकोपनिषद् १, १ ।
(आ) 'स्वर्तितनयाय गातं विदद्द ।' ऋग्वेद, १, ६९, ४ ।

२३. (अ) 'मनुर्हवा अग्रे यज्ञे नेर्ज तदनुकृत्येमा प्रजा यजन्ते ।'
शतपत ब्राह्मण, १५, १, ७ ।
(आ) जिनसेनकृत आादिपुराण, पर्व ४३, ३२२, ३५१ ।

२४. अथर्ववेद ४, ११, १२ ।
२५. "अजैयेष्टके ।"– जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, २७, ३८, १६४ ।
२६. Dr. H. R. Hall : The ancient History of far Eost 104, 77, 158, 203, 367, 402.
२७. अथर्ववेद । १८, १, १ ।
२८. ऋग्वेद, १०, ४५, १ ।
२९. वही, १०, ४५, २ ।
३०. तान्येतानि अष्टौ रूद्रःपशुपति उग्रः अशनिः भवः ।
महान्देवः ईषानः अग्निरूपाणि कुमारो नवम् ॥–शतपथ ब्राह्मण ६, १, ३, १८।
३१. ऋग्वेद : १, ११४, २, ३३, ७, ४६ ।
३२. ऋग्वेद १, ४३ ।
३३. वही, ६, ७४ ।
३४. बेबर, इण्दीश स्टूडीन, २, १९-२२ ।
३५. मेकडौनल : वेदिक मायीथोलोजी, पृष्ठ सं॰ ७९ ।
३६. भाण्डारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म ।
३७. मयूर : ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स ।
३८. विल्सन : ऋग्वेद, भूमिका ।
३९. कीथ : रिलिजन एण्ड माइथोलोजी आफ दी ऋग्वेद, पृष्ठ सं॰ १४७ ।
४०. ऋग्वेद : १, ११४, १ और ५ ।
४१. वही : १, ११४, ५ ।
४२. एव वभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषं न हंसि । ऋग्वेद : २, ३३, १५ ।
४३. या वो भेषजः मरूतः शुचीनि या शान्तमा वृषणों या मयोमु ।
यानि मनुर्वृणीता पिता नस्ताशंच योश्च रूद्रस्य बश्मि ।
–वही २, ३३, १३ ।
४४. श्रेष्ठो जातस्य रूद्रः श्रियांसि तवस्तमस्तवसां वज्रवाही ।
पर्णिणः पारमहंसः स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि ।
–वही २, ३३, ३ ।

४५. ऋग्वेद : ६, ७४ ।
४६. वही : ९, ७, ३ ।
४७. वही : २, १, ६, ३, २, ५ ।
४८. वही : १, ४३, ४ ।
४९. वही : १, ११४, ६ ।
५०. ऋग्वेद : १, १७२, १, १, ६४, ८ तथा ९, ५, ३३, ५, ५, ६१, ४ आदि ।
५१. ऋग्वेद : १०, १३६, २-३ ।
५२. अथर्ववेद : ६, ४४, ३, ६, ५७, १, १९, १०, ६ ।
५३. वही : ११, २, ७ ।
५४. वही : १५, १, ४, ५ ।
५५. व्रात्य आसी दीपमान एव स प्रजापतिं समैश्यत ।–अथर्ववेद १५, १ ।
५६. वृत्रो हवा इदं सर्व वृत्वा शिश्यो यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवीय यदिदं सर्व वृत्वा शिश्ये तस्माद बृत्रो नाम । "शपतथ ब्राह्मण ११, ३, ४ ।
५७. होएर : हर व्रात्य (Vratya)
५८. एन० एन० घोष : इण्डो आर्यन लिटेरेचर एण्ड कल्चर (Orgin) १९३४ ई० ।
५९. "ये नातरन्भूतकृतोतिमृत्यु यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण ।" –अथर्ववेद, ४, ३५ ।
६०. यजुर्वेदः (वाजसनेयी संहिता) १०, २० ।
६१. वही : (वाजसनेयी संहिता) ३९, ९, तथा महीधर का भाष्य-दुष्टं स्खलनोच्छल-नादि व्रतम् ।
६२. वही : (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १ ।
६३. वही : (तैत्तिरीय संहिता) १, २, ४ ।
६४. वही : (तैत्तिरीय संहिता) १, ८, ६ ।
६५. वही : (वाजसनेयी संहिता) ९, ३, ९, ३, ९, ८ । (तैत्तिरीय) १, ८, ६ ।
६६. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) १, ८, ६ (वाजसनेयी) ३, ५७, ६३ ।
६७. वही : (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १ ।
६८. कौशीतकी : २१, ३ ।
६९. जैमिनीय : लृ, २६१, ६३ ।
७०. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३-११-४-१०-४, ११, ५, १६ ।
७१. वही : ३, २-४, ३, ७, ४, १०-२४ ।
७२. श्वेताश्वतर उपनिषद् ४, १ ।
७३. वही : ४, ५ ।
७४. प्रश्नोपनिषद् २, ९ ।
७५. मैत्रायणी उपनिषद् १५, ८ ।
७६. शांखायन श्रौतसूत्र : ४, १९, १ ।
७७. वही : ४, २०, १४ ।
७८. वही : ४, २०, १ । आश्वलायन : ३, ११, १ ।

७९. लाणयन श्रौतसूत्र : ५, ३, २ ।
८०. शांखायन श्रौतसूत्र : ३, ४, ८ ।
८१. आश्वलायन गृह्यसूत्र : ४, १० ।
८२. वही : २, १, २ ।
८३. मानवगृह्यसूत्र २, १३, ९, १४ ।
८४. माहेश्वर सूत्र इस प्रकार हैं–अ इ उ ण्, ऋ लृ क्, ए ओ ङ, ऐ औ च्, ह य व र ट्, लव ण, ञं ल ङ ण न म्, झ भ च ञ्, झ भ ञ्, ष ढ ध प, ज ब ग ट द श्, ख फ छ ठ थ च ट त व्, क प य्, श प स र, हल्।
८५. अष्टाध्यायी, १, ४९, ३, ५३, ४, १०० ।
८६. रामायण, बालकाण्ड : ४५, २२-२३, ६६, ११-१२, ३, १, १३, २७।
८७. वही, १३, २१ ।
८८. वही, ४, २१ ।
८९. वही, ३६, २३ ।
९०. रामायण, बालकाण्डः ४३, ६ । उत्तराकाण्ड : ४, ३२, १३, २७, ८३, ११ ।
९१. वही, युद्धकाण्ड : ११७, ३ । उत्तराकाण्ड : १३, ३५, ८५, १२ ।
९२. महाभारत द्रोण : ७४, ५६, ६१ । १६१, २९ ,
९३. वही : अनुशासन : ९८, ८, २२ ।
९४. अनुशासन वही : ९८, ७४ आदि ।
९५. वनपर्व वही : १८८, ५० आदि ।
९६. वही वनपर्व : ८३, ३ ।
९७. द्रोण पर्व : ५०, ४९ ।
९८. वही अनुशासन पर्व, १५१, ७ ।
९९. बुद्धचरित : १०, ३, १, ९३ ।
१००. नाट्यशास्त्र : १, १ ।
१०१. वही : १, ४५, २४, ५, १० ।
१०२. वही : १, ६०, ६५ ।
१०३. वही : ४, ५, १० ।
१०४. लिंग पुराण, भाग २, २१, ४९, वायुपुराण : ५५,३, गरूडपुराण : १६,६,७।
१०५. सौरपुराण : २९, ३१, ब्रह्मपुराण : १२३, १९३ ।
१०६. वही : २, ८३, ब्रह्मपुराण : ११०, १०० ।
१०७. वायु पुराण : ३०, २८३, ८४ ।
१०८. वही : ६६, १०८, लिंगपुराण भाग १, ११ ।
१०९. वही : २४, १५६ इत्यादि ।
११०. ब्रह्मवैवर्तपुराण : भाग १,३,२०,६,४ ।
१११. सौरपुराण : अध्याय १२ ।
११२. वायुपुराण अध्याय १० ।
११३. मत्स्यपुराण : ४७, १३८, वायुपुराण : १७,१६६ ।
११४. वही : ४७,१३८,२६, वायुपुराण : २४,१६२ ।

क्या ऋषभदेव, पुरी के जगन्नाथ है ?

डा० राजीव कुमार जैन

पूर्वी भारत के प्राचीन उड़ीसा प्रान्त की प्रसिद्ध नगरी पुरी जगन्नाथ सम्प्रदाय से जुड़ी है तथा जगन्नाथ की भूमि कहलाती है। यह विचारणीय है कि पूर्वी भारत में प्रचलित जगन्नाथ सम्प्रदाय हिन्दू धर्म से सम्बद्ध है या जैन धर्म से ? जैन धर्म प्राचीन समय में विद्यमान था इसके प्रमाण विभिन्न आर्य धर्मग्रंथो में उपलब्ध है। जैन धर्म का उद्भव प्रागार्य और ऋगवैदिक काल से ही है। ऋग्वेद के 'केशी सूक्त' (१०-१३६) में वर्णित जैन श्रमणों का सम्बन्ध जैन धर्म से प्रकाशित होता है। वैदिक साहित्य में जैन धर्म के अनेक तीर्थंकरो के नाम पाये जाते है। ऋग्वेद के (4) मंत्रों में जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का स्तुतिगान हुआ है।[१] यजुर्वेद में उल्लेख किया गया है कि "ऋषभदेव धर्म-प्रवर्तकों में श्रेष्ठ है।" अथर्ववेद[२] और "गोपथ ब्राह्मण[३]" में स्वयंभूकाश्यप का वर्णन मिलता है और ये ही ऋषभदेव माने गये हैं। विष्णु पुराण और भागवत पुराण में ऋषभदेव की कथा का वर्णन मिलता है। इन ग्रन्थों में ऋषभदेव को ब्राह्मण धर्म के नारायण या विष्णु का अवतार बताया गया है। श्री मद्-भागवत में भी ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है।[४] ऋग्वेद में ऋषभदेव के अलावा अरिष्ठनेमि का भी उल्लेख मिलता है।[५]

सम्राट खारवेल के हाथी गुम्फा के शिलालेख प्राचीन उड़ीसा में जैन धर्म के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले प्रथम प्रमाण है। उड़ीसा प्रान्त के पुरी जिले में भुवनेश्वर से तीन मील की दूरी पर उदयगिरी पहाड़ी पर "हाथी गुम्फा" अभिलेख प्राप्त हुआ है।[६] यह अभिलेख महामेघवाहन वंश के महाराज खारवेल का उल्लेख करता है। यह सूर्यवंशी राजर्षिवसु का वंशज था। खारवेल ने अपने शासन के बारहवें वर्ष में उत्तरी भारत पर आक्रमण कर मगध से "कलिंग जिन" की

ऐतिहासिक मूर्ति वापिस ले आया, जो पूर्व में नन्दराज, कलिंग से ले गया था। राजा खारवेल के समय में उड़ीसा में जैन धर्म अपनी चरम उन्नति पर था।[७] पूर्व बुद्ध कालीन करांद नामक कलिंग सम्राट जैन धर्म के अनुयायी माने जाते थे। कलिंग सम्राट ने उत्तर पांचाल के दुमुखो, विदेह के नामी, गांधार के नागाजी आदि के अपने-अपने पुत्रों को सिंहासन पर बैठाने के बाद जैन धर्म स्वीकार किया। यह सभी सम्राट एक-दूसरे के समकालीन "जातक" में मिले विवरण के अनुसार माने जाते है।

हाथी गुम्फा के अभिलेख से ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई महावीर स्वामी की कलिंग यात्रा का प्रमाण मिलता है। हाथी गुम्फा अभिलेख की १४वीं पंक्ति के अनुसार महावीर स्वामी ने कुमारी पर्वत जिसे बाद में भुवनेश्वर के निकट उदयगिरी पर्वत के रूप में जाना गया था, अपने धर्म का उपदेश दिया।[८] प्राचीन उड़ीसा जैन तीर्थंकरो की मंगल गतिविधियो से संबद्ध रहा। जैन साहित्य में, तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का सम्बन्ध कलिंग से बताया गया है। इनका उल्लेख कुशस्थलपुर के राजा प्रसेनजित की पुत्री प्रभावती के पार्श्वनाथ से विवाह के संदर्भ में हुआ है। उक्त प्रसंग में कलिंग राज के बाधा उत्पन्न करने का उल्लेख है जिसने पार्श्वनाथ के मुकाबले अपने को पीछे हटा लिया। यह विवरण काफी रोचक लगता है कि कलिंग के राजा को पार्श्वनाथ के दर्शन के बाद ही हट जाना पड़ा। शायद राजा श्री पार्श्वनाथ के व्यक्तित्व से प्रभावित हो गया और बाद में राजा ने जैन धर्म के प्रचार में काफी उल्लेखनीय योगदान किया होगा।

जैन साहित्य में चौबीसवे तीर्थंकर महावीर के, प्राचीन उड़ीसा के *विभिन्न स्थलों में आगमन का विवरण प्राप्त होता हैं। अपने साधुत्व के* बारहवें वर्ष में भगवान महावीर ने श्रावस्ती[९] से अपने धर्म प्रचार हेतु हथ्थसीसा[१०] की ओर प्रस्थान किया, जो उत्तर कलिंग में स्थित है। बौधायन धर्मसूत्र में कलिंग को अपवित्र प्रान्त कहा गया है। महाभारत में मिले विवरण के अनुसार कलिंग वासियों का कोई धर्म ही नहीं था। इस प्रसंग में यह कथन भी उल्लेखनीय है कि महाभारत युद्ध में पांडवों

के विरूद्ध लड़ने वाले कलिंग का काफी अपमानजनक रूप से विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

कलिंग में जैन धर्म के आविर्भाव की चर्चा के लिए जैन धर्म के उड़ीसा में प्रवेश के संभावित मार्गों की जानकारी आवश्यक है । दंतपुर जो कि कलिंग की प्राचीन राजधानी थी, दूसरे राज्यों के ऐतिहासिक स्थानों से स्थल मार्ग से जुड़ा हुआ था।[११] पालि साहित्य बोधगया से कलिंग तक जाने वाले मार्ग का उल्लेख करता है । बोधगया में उड़ीसा के दो व्यापारी तपस्स और मल्लिक भगवान बुद्ध से मिले उस समय वे राजगढ़[१२] की ओर प्रयाण कर रहे थे । बुद्ध साहित्य से यह पता चलता हैं कि उत्कलवासी व्यापार के लिये गया आते रहते थे।[१३] इस संदर्भ में यह प्रस्तावित हो सकता है कि जैन साधु उड़ीसा में दक्षिण पश्चिमी बंगाल से प्रवेश करते थे । यहां पर आजीविक[१४] और निग्रंथ दोनों जैन धर्म स्वीकार करने से पहले रहते थे । यह भी विवरण मिलता है कि नालंदा में मिलने के बाद गोशाल और महावीर ने छह वर्ष पुण्यभूमि में साथ-साथ बिताये । यह पुण्यभूमि वज्जिभूमि ही थी जो लघा[१५] के दो हिस्सों में से एक थी । कल्पतरू[१६] के अनुसार ताम्रलिपि शाखा गोदास गण के चार शाखाओं में से एक थी, जो जैन साधु गोदास द्वारा स्थापित किया गया था । यह ताम्रलिपि बंगाल के दक्षिण-पश्चिम में मिदनापुर जिले में है । ये सारे प्रमाण यह बताते हैं कि उपरोक्त बंगाल के हिस्सो में लोग भगवान महावीर के युग से पहले जैन अनुयायियों की गतिविधियों से परिचित थे । यहां से जैन धर्म का प्राचीन उड़ीसा में आविर्भाव हुआ होगा ।

उड़ीसा में जैन धर्म अन्तिम जैन तीर्थंकर श्री वर्द्धमान महावीर के (जो कि महात्मा बुद्ध के समकालीन थे) के उदय से पूर्व ही प्रचलित था। जैन धर्म के संस्थापक व प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को उत्कल में ऋषभदेव के रूप में संबोधित किया जाता था । उत्कल में ऋषभदेव की अनेकानेक प्राचीन प्रतिमाएँ उपलब्ध है । इन प्रतिमाओ का सम्पूर्ण उड़ीसा में अलग-अलग स्थानों पर एक-दूसरे से दूरस्थ स्थानों पर पाया जाना यह दर्शाता है कि ऋषभदेव उड़ीसा में काफी आराध्य

और पूजनीय थे। उड़ीसा में आज भी अनेक जैन मन्दिरों में ऋषभदेव की प्रतिमाएँ स्थापित है।[१७]

शताब्दियों से उड़ीसा में जैन धर्म की प्रभावता रही है। मयूरभंज, कलींजर, कटक, पुरी, बालासोर व कोरापुट जिलों में जैन अवशेष पाये गये है। ये प्राचीन अवशेष तीर्थंकरो, यक्षों, यक्षणियों व चैत्यों आदि के है। भुवनेश्वर, कटक व चुढ़ाहार एवं अन्य स्थानो पर ऐसे जैन मन्दिर है जिनमें जैन तीर्थंकरो की नई-पुरानी प्रतिमाएँ एवं अन्य अवशेष है।[१८]

प्रथम व द्वितीय शताब्दी में राजा खारवेल के समय जैन धर्म उड़ीसा का राज धर्म था। राजा अशोक मौर्य के पौत्र सम्प्रति ने जो कि जैन धर्म का अनुयायी था, जैन धर्म के प्रचार-प्रसार को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। सम्राट खारवेल व उसके उत्तराधिकारियों ने उड़ीसा में खंडगिरी, उदयगिरी एवं नीलगिरी की पहाड़ियों में कुछ प्रसिद्ध गुफाओं की दीवारों पर जैन प्रतीकों को उत्कीर्ण कराया जो गुफाएं जैन साधुओं के रहने के लिये निर्मित की गयी थी।

उड़ीसावासियों की जीवन पद्धति पर जैन सम्प्रदाय का गहरा प्रभाव पड़ा। शाकाहार ने अपनी जड़े जमायी। वट-वृक्ष, कल्प-वट आदि की उपासना तथा अन्य सामाजिक रीतिरिवाजों पर जैन धर्म का काफी प्रभाव है।[१९] किंवदंतियां व उड़ीसा की कुछ लोक कथाएँ स्पष्टतया जैन किंवदंतियों से निकली है, जो कि सैकड़ों वर्षों से चली आ रही हैं। प्राचीन उड़ीसा साहित्य जिसमें कि सरलादास का महाभारत भी शामिल है निश्चित रूप से जैन धर्मानुयायियों द्वारा बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है। सरलादास के उड़ीसा महाभारत में वर्णित जैन गाथा एक जैन किंवदंति ही है लेकिन एक भिन्न रूप में। बाउल चरित रामगाथा जैसी रचनाओं में जैन धर्म का रंग स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। कुछ अध्यायों में उड़ीसा भागवत भी जैन विचारधारा व गार्हस्थ्य जीवन के नियमों की पुनरावृति प्रतीत होती है। लेकिन उड़ीसा में जैन धर्म का जिसका यहां एक संक्षिप्त उल्लेख किया गया है, उड़ीसावासियों के धार्मिक जीवन पर गहरा प्रभाव है। उड़ीसा के दो छोटे-छोटे सम्प्रदाय महिमपंथ व अरखिया पंथ जैन धर्म से इतने अधिक प्रभावित है कि उन्हें जैन

धर्म की शाखा ही कहा जा सकता है ।[२०] पूर्वी भारत में प्रचलित जगन्नाथ सम्प्रदाय की समानता हिन्दु धर्म से है या जैन धर्म से ? समानता के बिन्दु इतने अधिक व इतने अंतरंग है कि जगन्नाथ सम्प्रदाय के लिये यह कहना कठिन है कि वह ज़ैन धर्म (जोकि एक पुराना मत है से भिन्न है) जगन्नाथ सम्प्रदाय शैव व वैष्णव सम्प्रदायों जितना पुराना नहीं है और मूलतः उड़ीसा तक ही सीमित है । सिवाय इसके कि बंगाल और बिहार के कुछ हिस्से भी इसके प्रभाव में है । पुरी, जगन्नाथ की भूमि है क्योंकि महान जगन्नाथ मन्दिर भी यहीं स्थित है। बिहार में भी कुछ स्थानों पर जगन्नाथ के मन्दिर स्थित है । रांची में जगन्नाथपुर काफी प्रसिद्ध है जहां हैवी काम्पलैक्स मशीनरी स्थित है । और बंगाल में महेश गांवो की जगन्नाथ रथ यात्रा काफी प्रसिद्ध है । लेकिन हिन्दु भारत में भगवान जगन्नाथ, शिव-पार्वती तथा विष्णु आदि के समान सर्वत्र मान्य नहीं है । इनका हस्त विहीन रूप भी काफी विचित्र है । इनको हमेशा बलभद्र एवं सुभद्रा के साथ ही पूजा जाता है । जगन्नाथ सम्प्रदाय के साथ कुछ प्रमुख उत्सव सम्बद्ध है । इन देव प्रतिमाओं को एक सज्जित रथ पर प्रतिष्ठापित किया जाता है तथा लोग रथ को मुख्य मार्गो पर खींच कर निकालते है । (रथ यात्रा) देव प्रतिमाओं का विधिवत अभिषेक कराया जाता है जो स्नान यात्रा कहलाती है । देव प्रतिमा की रूप सज्जा की जाती है तथा उन्हें नव प्रतिमा से प्रतिस्थापित किया जाता है जो नव क्लेवर और प्राण प्रतिष्ठा कहलाती है ।

यह रथ यात्रा स्पष्टतया जैन धर्म से आई है । रथ का स्वरूप भी जैन चैत्य के समान है । पुरी और भूवनेश्वर में रथ यात्रा आषाढ मास (जुलाई) की पूर्णमासी के दूसरे दिन तथा चैत्रमास (अप्रेल) की पूर्णमासी के आठवें दिन निकाली जाती है । ये दोनों दिन काफी पवित्र माने गये है । किसी भी प्रकार का शुभ कार्य इन दो दिनों में किया जा सकता है, क्योंकि ये कल्याणक दिन कहलाते है । इस प्रथा के उद्‌भव को यदि खोजना चाहें तो जैन पौराणिक ग्रंथो का सहारा लेना पड़ेगा। इनके अनुसार आषाढ़ मास की पूर्णमासी के दूसरे दिन प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ का गर्भ कल्याणक दिवस था । प्रतिवर्ष इसी दिन चैत्य यात्रा व रथ यात्रा मनायी जाती है । काफी लोगों की यह मान्यता है कि भगवान

जगन्नाथ, भगवान ऋषभ के प्रतीक हैं और इसी दिन जगन्नाथ की रथ यात्रा मनायी जाती है। जैन पुराण के अनुसार आषाढ़ मास की पूर्णमासी के चौथे दिन ऋषभदेव का गर्भ संस्कार हुआ था और वे नौ मास चार दिन गर्भ में रहे और इस प्रकार चैत्यमास की पूर्णमासी के आठवें दिन उनका जन्म हुआ था और इसी दिन ऋषभदेव का जन्मदिन भुवनेश्वर में रथ यात्रा के रूप में मनाया जाता है।

जगन्नाथ की स्नान यात्रा (स्नान-संस्कार) के समान ही जैन देव प्रतिमाओं का भी अभिषेक और स्नान संस्कार किया जाता है। भगवान जगन्नाथ की आँखो का रंजन संस्कार तथा नवयौवन परिधान संस्कार अभिषेक के पश्चात् जैन देव प्रतिमाओं के संस्कारों की याद दिलाते है। जगन्नाथ की आँखों के अलावा अन्य अंगों का रंग संस्कार नहीं किया जाता है।

जगरनाथ[२१] या जगन्नाथ[२२] शब्द भी मूलतः जैन मूल का है (राजेन्द्र जैन शब्दकोष, अभिधान राजेन्द्र, खण्ड-चार, पृष्ठ १३८५) जैनेश्वर आदिनाथ ऋषभ का एक अन्य जगन्नाथ नाम से उल्लेख मिलता है। जगन्नाथ मन्दिरों में स्थित वट वृक्ष भी ऋषभदेव के चैत्यवृक्ष का ही प्रतीक है। जगन्नाथ का नील चक्र भी ऋषभ के धर्म चक्र का प्रतीक है। भारत में जहां भी भगवान ऋषभ की पूजा होती है उस स्थान को चक्र क्षेत्र कहते है। राजस्थान में स्थित माउंट आबू जो कि जैनियों का एक प्रमुख तीर्थ स्थल है, चक्र क्षेत्र कहलाता है। कलींजर जिले में स्थित आनंदपुर भी जहाँ भगवान ऋषभ की पूजा होती है, चक्र क्षेत्र कहलाता है। जगन्नाथ की पीठस्थली के नाम से विख्यात पुरी भी चक्र क्षेत्र के नाम से जानी जाती है। इस बात की पूरी संभावना है कि यह अन्य किसी युगीन प्राचीन ऋषभदेव का पीठस्थान हो। हिन्दु धर्म इतना उदार है कि उसने भगवान ऋषभदेव को भगवान जगन्नाथ मान लिया।

संलग्न : संदर्भ ग्रंथ सूची

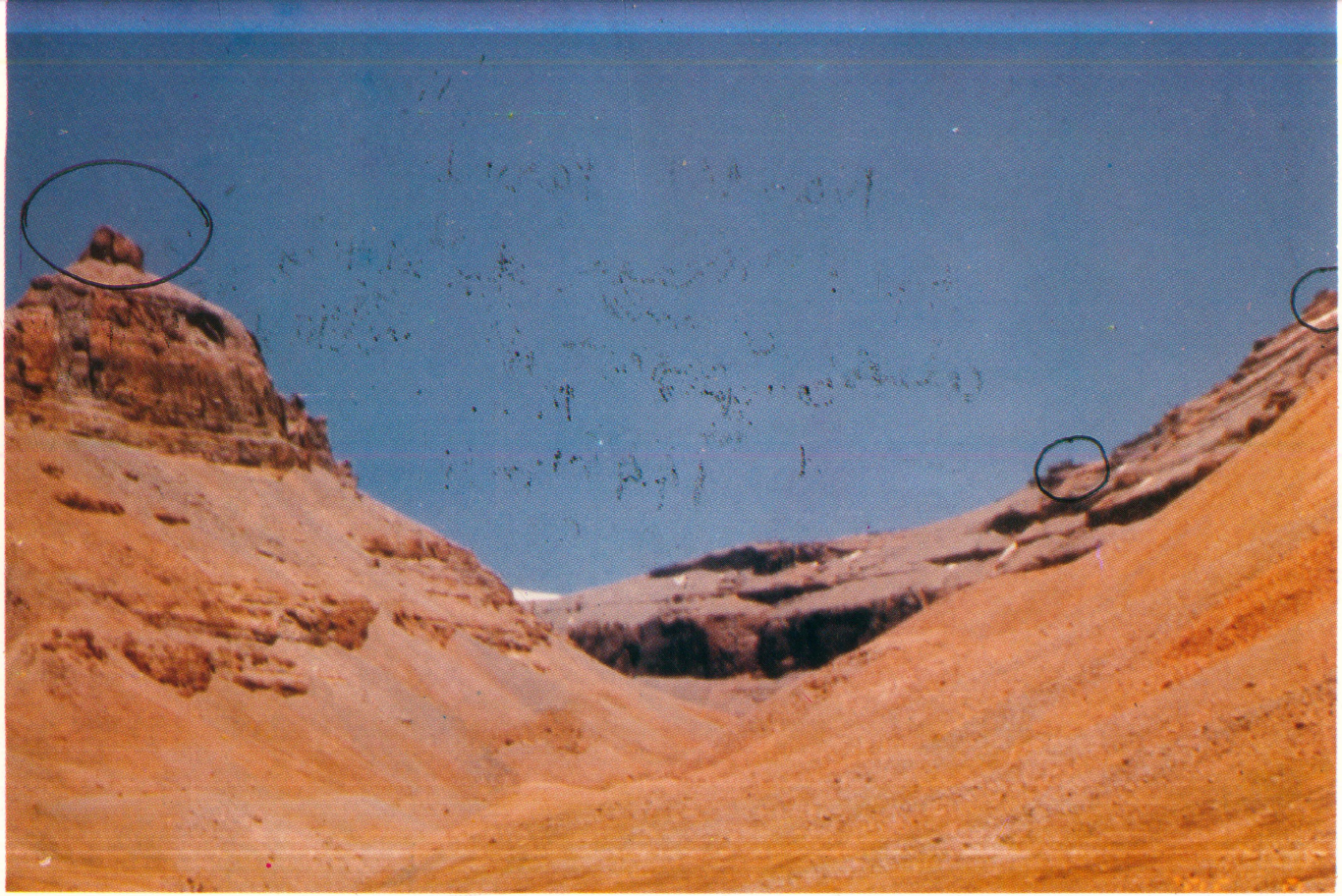

Left top: Image of Lion
Sinhnishadhya Prasad.
Right : identical

Mukha Kruti

- संदर्भ ग्रंथ सूची -

१. ऋग्वेद १०-१६६-१ ।
(ऋग्वेद की १४१ ऋचाओं में ऋषभदेव का स्तुतिपरक उल्लेख हुआ है।)
२. अथर्ववेद ११-५-२४-२६ ।
३. गोपष ब्राह्मण- पूर्व २-२० ।
४. श्री मद्भागवत- ५-२० ।
५. ऋग्वेद १-१००-१० और १०-१७८-१ ।
६. "An early history of orissa" By- A.C. Mittal, P-125.
७. --------- do ---------- P-135.
८. Jain Harivamsa Purana, III, 5; cf.El.Vol. XX, No.IV, P-89.
९. Avasyaka Niryukti, 495.
१०. IBID- P-507.
११. The Jataka, Vol.III, P-3.
१२. Mahavagga, 14
१३. Journal of the Andhra Historical Research Society, Vol.II, No.1, P-26.
१४. The Ajivikas, Pt, I By- B.M. Barua, P-57.
१५. Sacred Books of the East, Vol.XXII, P-84, Jn.1.
१६. IBID, P-200.
१७. An early history of Orissa- A.C. Mittal, P-191.
१८. ---------- do ---------- P-193.
१९. Jain Sutras, Pt.III Trans, By- H. Jacobi, P-89/90.
२०. Journal of Bihar & Orissa Research Society, Vol.XII, XIII., P-220, 224.
२१. Journal of Bihar & Orissa Research Society, Vol.XIII, P-227.
२२. अभिज्ञान राजेन्द्र, कोष, खंड-चार, पृष्ठ-१३८५ ।
२३. अभिज्ञान राजेन्द्र कोष, खंड-चार, पृष्ठ-१३८५ ।

* In Courtesy of-
"Is Rishabh The Jagannatha of Puri"- Dr. P.C. Roy Choudhary
Jain Journal, July-1974, Calcutta.

जैन धर्म का प्रसार

श्री के० रिषभ चन्द्र

एक समय ऐसी मान्यता रही कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। डॉ० याकोबी ने इस भ्रान्त धारणा को निर्मूल किया। तत्पश्चात् यह कहा जाने लगा कि जैन धर्म हिन्दू धर्म (ब्राह्मण धर्म) में से ही उत्पत्र हुआ है, वैदिक हिंसा के विरोध में जो आन्दोलन आरंभ हुआ था उसने एक नए धर्म का स्वरूप पाया, परन्तु जैसे-जैसे अन्वेषण अग्रसर होता जा रहा है वैसे-वैसे यह आक्षेप भी असत्य सिद्ध होता जा रहा है। आधुनिक विद्वान अब यह अभिप्राय बनाते जा रहे हैं कि जैन धर्म की परम्परा बहुत प्राचीन है। भगवान महावीर और पार्श्व के पूर्व काल में भी इस धर्म की परम्परा विद्यमान थी, इतना ही नहीं अपितु प्रागैतिहासिक काल में भी इस धर्म की परम्परा के धुंधले चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे हैं।

जैन के अलावा इस धर्म के दूसरे नाम आर्हत और निर्ग्रन्थ रहे हैं। महावीर के समय में इसका नाम निर्ग्रन्थ धर्म था जैसा कि पालि और अर्ध मागधी साहित्य से पता चलता है। इसका एक अन्य नाम श्रमण भी रहा है, हालांकि श्रमण शब्द बहुत विस्तृत रहा है और उसमें कई सम्प्रदायों का समावेश होता रहा है : जैसे बौद्ध, आजीविक तथा कुछ सीमा तक पूर्व कालीन सांख्य और शैव भी। इसी श्रमण परम्परा में निर्ग्रन्थों का भी एक सम्प्रदाय था। पार्श्वनाथ के पहले इस सम्प्रदाय का क्या नाम रहा यह जानने के लिए कोई विशिष्ट साधन उपलब्ध नहीं है। यह सुनिश्चित है कि श्रमण परम्परा निवृत्ति प्रधान रही है और उसे मुनि परम्परा भी कहा गया है। एक प्रवृत्ति परम्परा भी भारत में विद्यमान रही है, उसका नाम है वैदिक, यज्ञमुखी, देवकृषि अथवा वर्णाश्रम धर्म परम्परा। वास्तव में ये दोनों परम्पराएँ ऋग्वेद काल से प्रचलित हैं। ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम साहित्य है जिनमें हमें निवृत्ति

और प्रवृत्ति दोनों मार्गों के दर्शन होते हैं। उस समय मुनि परम्परा भी यथेष्ट प्रमाण में लोकप्रिय थी। महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनि के एक सूत्र की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि श्रमणों और ब्राह्मणों का विरोध शाश्वत काल से चला आ रहा है।[१] पुराणों और महाभारत में ऐसा उल्लेख है कि सृष्टि निर्माण करते समय ब्रह्मा ने प्रथम सनक आदि पुत्रों को उत्पत्र किया था। वे वन में चले गए और निवृत्तिमार्गी हो गए। तदुपरांत ब्रह्मा ने अन्य पुत्रों को उत्पन्न किया, जिन्होंने प्रवृत्ति प्रधान रहकर प्रजा की सन्तति को आगे बढ़ाया।[२] कहने का तात्पर्य यह है कि निवृत्ति प्रधान परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

प्राचीन काल :

अपने प्राचीन इतिहास सम्बन्धी जैन आगमों और पुराणों के वर्णनानुसार जम्बु द्वीप के दक्षिण में स्थित भारत देश में जिसके उत्तर में हिमवान पर्वत है, पहले भोग भूमि की व्यवस्था थी। काल व्यतिक्रम से उसमें परिवर्तन शुरू हुआ और आधुनिक सभ्यता का प्रारम्भ। उस समय चौदह कुलकर हुए, जिन्होंने क्रमशः कानून की व्यवस्था की और समाज का विकास किया। उन चौदह कुलकरों में अन्तिम कुलकर नाभि थे। उनकी पत्नी मरूदेवी थी और उनसे प्रथम तीर्थंकर ऋषभ का जन्म हुआ जिन्होंने सर्वप्रथम कृषि, शिल्प-वाणिज्य आदि छह साधनों की व्यवस्था की तथा धर्म का उपदेश दिया। ये ही जैनों के आदि धर्मोपदेशक माने जाते हैं। इनका ज्येष्ट पुत्र भरत था जो प्रथम चक्रवर्ती हुआ। इस तरह चौदह कुलकरों के पश्चात् त्रेसठ शलाका पुरूष हुए जिनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ बासुदेव तथा ९ प्रति-बासुदेव हैं।

प्रथम चक्रवर्ती भरत से ही इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ ऐसा जैन पुराणों व आगमों में कहा गया है। हिन्दु पुराणों के अनुसार भी इन्हीं नाभि के पौत्र तथा ऋषभ के पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम से अजनाभ खण्ड का नाम भरत खण्ड हुआ। इस प्रकार जैन अनुश्रुति का हिन्दु (ब्राह्मण) पुराणों के द्वारा समर्थन होता है और उसकी ऐतिहासिकता सूचित होती है।

ऋषभदेव का जन्म अयोध्या में हुआ था। दीक्षा के बाद वे कठोर तपस्वी बनें। वे नग्न रहते और सिर पर जटाएँ धारण करते थे। जैन कला में घोर तपस्वी के रूप में सिर पर जटाल केशों के साथ उनका अंकन हुआ है। उनके जीवन सम्बन्धी वर्णन अजैन साहित्य में भी प्राप्त हैं। हिन्दू पुराणों में[३] (भागवत इत्यादि) उनके वंश, माता-पिता और तपश्चर्या का जो वर्णन है वह जैन वर्णन से काफी साम्य रखता है। वे स्वयंभू मनु से पांचवीं पीढ़ी में हुए थे। (इस वर्णन के अनुसार अन्य अवतारों जैसे राम, कृष्ण इत्यादि से इनका समय प्राचीन ठहरता है तथा महाभारत के अनुसार भी प्रजापति के प्रथम पुत्र निवृत्ति मार्गी हुए और तत्पश्चात् प्रवृत्ति मार्ग का प्रचलन हुआ।) वे कठोर तपस्वी थे और नग्न रहते थे। उन्होंने दक्षिण देश में भी भ्रमण किया था। वे वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करने के लिए अवतरित हुए थे। उन्हें विष्णु और शिव दोनों का अवतार माना गया है। वातरशना श्रमण मुनियों की इस परम्परा के दर्शन भारत के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में[४] भी होते हैं। इस वेद के दशवें मंडल में वातरशना मुनियों का वर्णन उपलब्ध हैं और उसके साथ उनके प्रधान मुनि केशी की भी स्तुति की गयी है। केशी का तात्पर्य केश धारी व्यक्ति से है और जैन परम्परा में सिर्फ ऋषभ की मूर्त्ति जटाल केशों को धारण किए हुए मिलती है। इस सम्बन्ध में मेवाड़ के केसरियानाथ जो ऋषभ का ही नामांतर है, ध्यान देने योग्य है। ऋग्वेद में एक स्थल पर केशी और बृषभ का एक साथ वर्णन भी मिलता है और उनके एकत्व का समर्थन होता है। जैन तीर्थंकर नग्न रहते थे यह सुविदित है। ऋग्वेद में[५] तथा अथर्व वेद में[६] भी शिश्न देवों के उल्लेख मिलते हैं। पटना के लोहानीपुर स्थल से कायोत्सर्ग मुद्रा में जो नग्न मूर्ति पायी गयी है वह भारत की सबसे पुरानी मूर्ति है और वह जैन तीर्थंकर की मूर्ति मानी गयी है। वैसे सिन्धु सभ्यता के जो भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं उनमें भी एक नग्न मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में मिली है और उसके साथ बैल का चित्र भी। जैन परम्परा में भी ऋषभ के साथ बैल का चिह्न अंकित किया जाता है। इस कारण उस मूर्ति को तीर्थंकर की मूर्ति मानने के लिए विद्वान लोग प्रेरित हुए हैं। उपर्युक्त आधारों से यह मानना अप्रामाणिक नहीं

होगा कि ऋग्वेद से भी पहले सिन्धु सभ्यता के काल में जैन धर्म का किसी न किसी रूप में अस्तित्व था।

ऋग्वेद में[७] व्रात्यों के उल्लेख आते हैं। वे श्रमण परम्परा से संबन्धित थे। उनका वर्णन अथर्व वेद में[८] भी है। वे वैदिक विधि के प्रतिकूल आचरण करते थे। मनुस्मृति[९] में लिच्छवियों, नाथ, मल्ल, आदि क्षत्रियों को व्रात्य माना गया है। ये भी सभी श्रमण परम्परा के ही प्रतिनिधि थे। व्रात्यों के अलावा वैदिक[१०] साहित्य में यतियों के उल्लेख भी आते हैं। वे भी श्रमण परम्परा के साधु थे। जैनों में यति नाम की संज्ञा प्रचलित रही है। कुछ काल के पश्चात् वैदिक साहित्य में यतियों के प्रति विरोध होता दीख पड़ता है जो पहले नहीं था। ताण्ड्य ब्राह्मण के[११] टीकाकार ने यतियों का जो वर्णन किया है उससे स्पष्ट है कि वे श्रमण परम्परा के मुनि थे। इस प्रकार वैदिक साहित्य के विविध ग्रंथों में श्रमण परम्परा के असंदिग्ध उल्लेख बिखरे पड़े हैं।

अन्य तीर्थंकरों की ऐतिहासिक सत्ता के प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं। यजुर्वेद में ऋषभदेव तथा द्वितीय तीर्थंकर अजित और तेइसवें अरिष्टनेमि के उल्लेख मिलते हैं।[१२] अन्तिम चार तीर्थंकरों की सत्ता के बारे में कुछ कहा जाने योग्य है। इक्कीसवें तीर्थंकर नमि का साम्य कुछ विद्वान उत्तराध्ययन में वर्णित नमि के साथ बिठाते हैं जो मिथिला के राजा थे।[१३] उनके अनासक्ति विषयक उद्‌गार वाक्य पालि और संस्कृत साहित्य में भी उद्धृत मिलते हैं। उसी परम्परा में जनक हुए जो विदेह (जीवन्मुक्त) थे और उनका देश भी विदेह कहलाया। उनकी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण ही उनका धनुष प्रत्यंचाहीन प्रतीक मात्र रहा। वैसे व्रात्यों को भी 'ज्याहृद' कहा गया है और उसका सम्बन्ध इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है।

बाईसवें तीर्थंकर नेमि और बासुदेव कृष्ण चचेरे भाई थे। नेमि गिरनार पर तपस्या में प्रवृत्त हुए और वहीं पर मोक्ष प्राप्त किया। महाभारत काल १००० ई० पूर्व माना जाता है और वही समय नेमि का ऐतिहासिक काल माना जाना चाहिए। वैदिक वाङ्मय में वेद से पुराण तक के साहित्य में नेमि के उल्लेख देखने को मिलते हैं।[१४]

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म बनारस में हुआ था। उन्होंने सम्मेत शिखर पर दक्षिण बिहार में मुक्ति प्राप्त की थी। उनका निर्वाण ई. पू. ७७७ में हुआ था। उनका धर्म चातुर्याम के नाम से प्रसिद्ध था। पालिग्रंथ में इसके उल्लेख हैं। गौतम बुद्ध के चाचा बप्प शाक्य निर्ग्रन्थ श्रावक थे।[१५]

महावीर काल

चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर महावीर हुए जिनका कौटुंबिक सम्बन्ध मिथिला के लिच्छवी गणतन्त्र और वैशाली से था। उन्होंने पूर्व परम्परा को एक अद्‌भुत शक्ति प्रदान की थी। वे ज्ञातृवंश के थे और वैशाली उनका जन्म स्थान था। उनका निर्वाण पावापुरी में ई. पूर्व ५२७ में हुआ था। उन्होंने पार्श्वनाथ के चातुर्यामों को पाँच व्रतों में बदला। उन्होंने ई. पू. छठी शती के द्वितीय और तृतीय पाद में स्थान-स्थान पर भ्रमण करके अपने उपदेश दिए थे। उनके द्वारा जिन पूर्व और पश्चिमी प्रदेशों में जैन धर्म का प्रचार हुआ उनके नाम इस प्रकार है : पूर्व में अंग, बंग, मगध, विदेह तथा कलिंग, पश्चिम में काशी, कोसल और वत्स देश। मगध के राजा श्रेणिक बिम्बिसार तथा कुणिक अजातशत्रु का जैन धर्म के साथ जो सम्बन्ध रहा वह सुविहित है। वैशाली के गण प्रमुख चेटक महावीर के मातृपक्ष से सम्बन्धित थे। गणराज्य में उनका स्थान और प्रभाव सर्वोपरि था। उनका रिश्ता सिन्धु सौवीर के राजा उदयन और उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत तथा कौशाम्बी के राजा शतानीक के साथ था। इस प्रभाव के कारण उन प्रदेशों में जैन धर्म के प्रचार में काफी प्रेरणा मिली होगी। महावीर के निर्वाण के अवसर पर लिच्छवि और मल्लकी राजाओं का वहाँ पर उपस्थित होना उनके जैन धर्मानुयायी होने का प्रमाण है।

महावीर के पश्चात्

महावीर के पश्चात् भी मगध के सम्राटों के साथ जैन धर्म का अच्छा सम्बन्ध रहा है। अजातशत्रु ने वैशाली गणराज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। काशी-कोशल का मगध में समावेश हो गया। ऐसे विशाल मगध साम्राज्य के नन्द राजाओं के जैन होने का वर्णन आता है।

इसकी पुष्टि खारवेल के शिलालेख से भी होती है। आदि मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त भद्रबाहु के शिष्य बने थे और उन्होंने समाधिमरण किया था ऐसी भी एक परम्परा है। अशोक भी आरम्भ में जैन थे और बाद में बौद्ध हो गए। संप्रति एक प्रभावशाली जैन सम्राट थे। उनके धर्म प्रचार के कारण उन्हें जैन अशोक कहा जाता है।

मौर्यकाल के पश्चात् आगे के वर्षों में भारत में जैन धर्म का प्रसार किस प्रकार हुआ उसका सप्रमाण चित्र जैनों की विभिन्न वाचनाओं से सामने आता है। ई. पू. चौथी शती में प्रथम जैन वाचना पाटलिपुत्र में स्थूलिभद्र के नेतृत्व में हुई थी। तत्पश्चात् ईसा की चतुर्थ शताब्दी में एक वाचना स्कन्दिलाचार्य के सभापतित्व में मथुरा में और उसी समय अन्य वाचना नागार्जुन के प्रमुखत्व में बल्लभी में हुई थी। अन्तिम वाचना देवर्द्धि गणि के नेतृत्व में पाँचवीं-छठी शती में फिर बल्लभी में हुई थी। एक परम्परा के अनुसार बारह वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण ई. पू. चौथी शताब्दी में भद्रबाहु, बहुत बड़े मुनि समुदाय के साथ दक्षिण में गए थे। इन वर्णनों से स्पष्ट है कि महावीर के पश्चात् दूसरी शती से जैन धर्म का प्रचार पश्चिम और सुदूर दक्षिण की तरफ होने लगा था।

सातवीं शती के चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णन से यह मालूम होता है कि उस समय वैशाली में निर्ग्रन्थों की बहुत बड़ी संख्या विद्यमान थी। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के मुनि पश्चिम में तक्षशिला और दिगम्बर निर्ग्रन्थ पूर्व में पुण्ड्रवर्धन और समतट (बंगाल) तक भारी संख्या में पाये जाते थे। इस प्रकार इस समय तक जैन-धर्म सारे उत्तर भारत में पर्याप्त प्रमाण में प्रचलित हो गया था।

प्रारंभिक संघभेद

महावीर तथा उनके गणधरों के समय में जैन संघ में जो एकता रही वह बाद में विच्छिन्न हो गयी। जैसे-जैसे धर्म का प्रचार विभिन्न प्रदेशों में होता गया वैसे-वैसे उसमें तरह-तरह के लोगों का समावेश होता गया। समय के साथ परिस्थितियाँ भी बदलती गयी। इन कारणों से संघ में विभेदात्मक प्रवृत्तियाँ बढ़ती गयी और विभिन्न गण, गच्छ और फिरकों का प्रादुर्भाव होने लगा। इससे सबसे बड़ा और विकट भेद श्वेताम्बर-दिगम्बरों का हुआ।

श्वेताम्बरों के अनुसार महावीर के ६०६ वर्ष पश्चात् ई. सं. ८२ में बोटिक अर्थात् दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति मानी जाती है। दिगम्बरों के अनुसार श्वेताम्बरों की उत्पत्ति ई. सं. ७९ में मानी गयी है। दोनों सम्प्रदायों को मान्य यह स्पष्ट भेद महावीर के ६०० वर्ष पश्चात् ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ। वैसे भेद के लक्षण बहुत पूर्व कालीन प्रतीत होते हैं। महावीर के शिष्य गौतम और पार्श्व परम्परा के श्रमण केशी का संवाद इसी ओर संकेत करता है, हालांकि केशी ने महावीर के सिद्धान्तों को अपना लिया था। इसके पश्चात् हमें सात निह्नवों के सैद्धान्तिक भेदों का पता चलता है। प्रथम निह्नव जमाली तो महावीर का समकालीन था। इसके पश्चात् अन्य छ निह्नव हुए जिनकी कालावधि महावीर के पश्चात् ५८४ वर्ष तक की रही है। सिद्धान्त भेद होने के कारण वे महावीर से अलग पड़ गये। आठवें निह्नव बोटिक से दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति मानी जाती है। महावीर के पश्चात् क्रमशः गौतम, सुधर्मा और जंबू स्वामी दोनों सम्प्रदायों को समान रूप से मान्य रहे हैं। उनके पश्चात् आचार्य परम्परा में भिन्नता आ जाती है। श्वेताम्बरों के अनुसार पाटलिपुत्र की वाचना में भद्रबाहु सम्मिलित नहीं हुए और स्थूलिभद्र की सहायता से ही वाचना की गयी। दिगम्बरों के अनुसार अकाल पड़ने के कारण भद्रबाहु अपने शिष्य समुदाय के साथ दक्षिण की तरफ चले गए।[१६] बाद में लौटने पर उनलोगों ने देखा कि उत्तरी क्षेत्र के साधु समुदाय में परिस्थितिवश काफी शिथिलता आ गयी है। उनको ये नयी प्रवृत्तियाँ स्वीकृत नहीं हुई और इस प्रकार सम्प्रदाय भेद प्रस्फुटित हो गया। वाचना में भद्रबाहु का श्वेताम्बर मतानुसार शामिल नहीं होना भी एक आपत्ति जनक मुद्दा ही बना रहता है। इस कारण से वाचना में कुछ कमी अवश्य ही रही क्योंकि उन्हें ही सिर्फ चौदह पूर्वो का ज्ञान था। इस तरह से हम देखते हैं कि समय-समय पर भेदात्मक प्रवृत्तियाँ सामने आती रही हैं, परन्तु स्पष्ट भेद तो ई. सं. की पहली शताब्दी में ही हुआ ऐसा दोनों सम्प्रदायों की मान्यता से प्रकट है। श्रुत की परम्परा मौखिक रूप से आ रही थी। दो तीन वाचनाओं के द्वारा उसे समय-समय पर नष्ट होने से बचाया गया। अन्तिम वाचना देवर्द्धि गणि के सभापतित्व में छठी शती में बल्लभी में हुई।

उस समय श्रुत को लिखित रूप दिया गया । इस लिखित रूप से श्वेताम्बरों और दिगम्बरों की भेद भावना को और भी शक्ति मिली। इस प्रकार उतरोत्तर काल में यह भेद प्रबल बनता ही गया और इसके फलस्वरूप गुरू परम्परा भी भिन्न-भिन्न हो गयी तथा दोनों का साहित्य भी अलग-अलग ।

श्वेताम्बर-दिगम्बर के अलावा यापनीय नामक एक अन्य सम्प्रदाय भी प्रचलित हुआ जो दक्षिण में ही पनपा । कहा जाता है कि दूसरी शती में एक श्वेताम्बर मुनि श्री कलश ने कल्याण नगर में यापनीय संघ की स्थापना की । यापनियों का उल्लेख बाद की कई शतियों तक साहित्य और लेखों में होता रहा है । यह संघ श्वेताम्बर-दिगम्बर का समन्वय रूप था । इसका मुख्य अड्डा कर्नाटक में बना रहा । पांचवी-छठी शती में यह वहाँ पर सुदृढ़ता से जम गया था ।

दिगम्बर सम्प्रदाय का विविध संघों में विभाजन इस प्रकार हुआ है । उनका पुराने से पुराना मूल संघ है जिसकी स्थापना दूसरी शताब्दी में हुई थी । पुष्पदन्त और भूतबलि के गुरू आचार्य अर्हदबलि ने मूल संघ की चार शाखाएँ स्थापित की थी । वे थी सेन, नंदी, देव और सिंह ।

पाँचवी शती में मदुरा (दक्षिण) में वज्रनंदि ने द्रविड़ संघ की स्थापना की थी । कुमारसेन मुनि ने सातवीं शती के अन्त में नंदीतट ग्राम में काष्ठा संघ को स्थापित किया । मदुरा (उत्तर) में माथुर संघ की स्थापना नवीं शती के अन्त में रामसेन मुनि ने की थी । भिल्लक संघ का उल्लेख भी आता है । विन्ध्य पर्वत के पुष्कल नामक स्थान पर वीरचन्द्र मुनि ने दशवीं शती के प्रारम्भ में इस संघ की स्थापना की थी । इससे भीलों द्वारा जैन धर्म को अपनाने का प्रमाण मिलता है ।

श्वेताम्बरों में भी कई गच्छों की उत्पत्ति हुई । गणधर गौतम के पश्चात् पट्ट-परम्परा गणधर सुधर्मा ने संभाली थी । उनकी परम्परा में छठें आचार्य यशोभद्र हुए । उनके दो शिष्य थे संभूतिविजय और भद्रबाहु, जिनसे दो भिन्न शिष्य परम्पराएँ चली । संभूतिविजय की परम्परा में नाइल, पोमिल, जयन्त और तापस शाखाएँ चल पड़ी तथा भद्रबाहु की

परम्परा में ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका, पौण्ड्रवर्धनिका और दासीखर्बटिका। सातवें आचार्य के शिष्यों की परम्परा में तेरासिय शाखा तथा उत्तर बलिस्सहगण, उधेहगण, चारणगण, उडुवाडियगण, वेसवाडियगण और कोटिकगण स्थापित हुए और उनका कई शाखाओं और कुलों में विभाजन हुआ।

आगे के वर्षों में गच्छों की स्थापना होने लगी। उनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं : आठवीं शताब्दी में उद्योतन सूरि ने वृहद् गच्छ की स्थापना की। खरतरगच्छ का उद्भव ग्यारहवीं शती में हुआ। बारहवीं शती में अंचलगच्छ का प्रादुर्भाव हुआ। और इसी शती में आगमिक गच्छ की स्थापना की गयी। तपागच्छ १३ वीं शती में स्थापित हुआ था।

उत्तरकालीन संघभेद

श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद के कारण मुनियों के आचार पर काफी प्रभाव पड़ा तथा उसमें भेदभाव बढ़ा। बाद में अन्य सम्प्रदाय, गण या गच्छ उत्पन्न हुए। उनमें इतना आचार सम्बन्धी कोई भेद भाव नहीं होने पाया। श्वेताम्बरों में वस्त्र की मात्रा बढ़ने लगी। पहले दोनों सम्प्रदायों में तीर्थंकरों की नग्न मूर्त्तियाँ समान रूप से प्रचलित थी, परन्तु सातवीं-आठवीं शती से श्वेताम्बर मूर्त्तियों मे कौपीन का चिह्न बनाया जाने लगा तथा मूर्त्तियों को वस्त्र व अलंकारों से सजाने की प्रवृत्ति भी बढ़ गयी। इस कारण इन दोनों के मंदिर भी अलग-अलग हो गए। दोनों सम्प्रदायों में एक और प्रवृत्ति ने जन्म लिया। सामान्यतः वर्षा ऋतु में ही मुनि लोग एक स्थल पर ठहरते थे, परन्तु पाँचवीं-छठी शती से स्थायी रूप से कुछ मुनि चैत्यालयों मे ठहरने लगे। इस कारण वे चैत्यवासी कहलाये और भ्रमण शील मुनि बनवासी। चैत्यवासियों में आचार शिथिलता आ गयी और धीरे-धीरे मंदिरों में मठों में श्रीपूज्यों और भट्टारकों की गद्दियाँ स्थापित हुई और परिग्रह की भावना ने जोर पकड़ा। एक स्थान पर ठहरने का कारण था पठन-पाठन व साहित्य रचना में सुविधा प्राप्त करना। इससे एक लाभ अवश्य हुआ, अनेक शास्त्र भंडार स्थापित हुए। ये शास्त्रभंडार सारे भारत में फैले हुए हैं, खास तौर से गुजरात, राजस्थान तथा मैसूर में।

१५ वीं शती में मूर्त्तिपूजा विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ और श्वेताम्बरों में अलग सम्प्रदायों की स्थापना हुई। श्वेताम्बरों में लोकाशाह ने इस मत की स्थापना की और वह आगे जाकर ढूँढिया और स्थानकवासी सम्प्रदाय कहलाया। इसमें मन्दिरों के बजाय स्थानक और आगमों की विशेष प्रतिष्ठा है। उन्हें ३२ आगम मान्य है तथा अन्य आगमों को वे स्वीकार नहीं करते। १८ वीं शती में आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी सम्प्रदाय से अलग होकर तेरापन्थी सम्प्रदाय की स्थापना की।

दिगम्बरों में तारण स्वामी ने तारण पंथ की स्थापना १६ वीं शती में की जो मूर्त्तिपूजा का निषेध करता है। अन्य सम्प्रदायों में १७ वीं शती में तेरापंथ और १८वीं शती में गुमान पंथ की स्थापना हुई। उनमें बीस पंथ और तेरापंथ भी प्रचलित है।

उत्तर भारत में जैन धर्म

जैन धर्म की महावीर के काल तक प्राचीन समय में क्या स्थिति रही तथा आगे किस प्रकार के संघभेद हुए उनका वर्णन करने के पश्चात् अब भारत के विभिन्न प्रदेशों में जैन धर्म का आगामी शतियों में किस प्रकार प्रसार हुआ उसका वर्णन किया जाएगा।

बिहार

बिहार के साथ जैन धर्म का संबन्ध इतिहासातीत काल से रहा है। कई तीर्थंकरों ने उसी प्रदेश में जन्म लिया तथा बीस तीर्थंकरों का निर्वाण सम्मेत शिखर पर हुआ। महावीर के स्थल-स्थल पर विहार करने के कारण इस प्रदेश का नाम ही बिहार हो गया। वहाँ से उड़ीसा में जाने कां रास्ता मानभूम और सिंहभूम में से था। इन दो प्रदेशों की सराक जाति जैन धर्म की अविच्छिन्न परम्परा की द्योतक है। मानभूम के 'पच्छिम ब्राह्मण' अपने को महावीर के वंशज मानते है। वे अपने को प्राचीनतम आर्यों के वंशज मानते हैं जिन्होंने अति प्राचीन काल में इस भूमि पर पैर रखा था। वे वैदिक आर्यों के पूर्व इस तरफ आये थे। मानभूम और सिंहभूम जिलों में जैनावशेष काफी संख्या में प्राचीन काल से ग्यारहवीं शती तक के मिलते हैं। सम्राट खारवेल के काल में मगध में फिर से जैन धर्म ने जोर पकड़ा था। वह गया के पास बराकर

पहाड़ी तक आया था। शहाबाद में सातवीं से नवीं शताब्दी तक के पुरातत्त्व मिलते हैं। राष्ट्रकूटों और चन्देलों ने भी छोटा नागपुर में राज्य करते समय जैनों के प्रति सहानुभूति रखी थी। ग्यारहवीं शती में राजेन्द्र चोल ने बंगाल से लौटते समय मानभूम के जैन मन्दिरों को ध्वंस्त किया था।

बंगाल

महावीर ने स्वयं राढ़ (पश्चिमी बंगाल) में भ्रमण किया था और वहाँ पर लोगों ने उनको काफी सताया था। पहले यह अनार्य प्रदेश माना जाता था। परन्तु महावीर के प्रभाव में आने के पश्चात् इसे भी आर्य देश माना जाने लगा। प्रथम भद्रबाहु का जन्म कोटिवर्ष (उत्तरी बंगाल) में ही हुआ था। भद्रबाहु के चार शिष्यों ने जिन चार शाखाओं की स्थापना की उनके नाम बंगाल के स्थानीय नामों पर से ही दिए गए हैं, जैसे कोटिवर्षिका, ताम्रलिप्तिका, पौण्ड्रवर्धनिका और दासी खर्बरिटा। तत्पश्चात गुप्तकालीन पाँचवीं शती का पूर्व बंगाल में पहाड़पुर से एक ताम्रलेख मिला है जिसमें जिन मूर्त्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। सातवीं शती के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि बंगाल के विभिन्न भागों में निर्ग्रन्थ काफी संख्या में विद्यमान थे। पालवंश के राज्य काल की नवीं और दशवीं शताब्दियों के आसपास की प्रचुर मात्रा में जैन मूर्त्तियाँ खुदाई में निकली है जिनसे इतना तो स्पष्ट है कि उस काल में भी जैन बस्ती वहाँ पर काफी मात्रा में विद्यमान थी। पाल राजा स्वयं बौद्ध धर्मी थे परन्तु अन्य धर्मो के प्रति सहनशीलता रखते थे। उनके बाद सेनों के समय से जैन धर्म का वहाँ पर ह्रास होता गया। वे कट्टर ब्राह्मणवादी थे। पिछले करीब तीन सौ वर्षों से बंगाल में जैन लोग बसने लगे हैं परन्तु मूल बंगाली जैनों की कोई अविच्छिन्न धारा नहीं दिखती।

उज्जैन और मथुरा

उज्जैन का राजा और गणाधिपति चेटक के बीच महावीर के काल में ही सम्बन्ध हो गया था। उसके पश्चात् जैन धर्म की यहाँ पर क्या स्थिति रही स्पष्टत नहीं कहा जा सकता, परन्तु ई. पू. की प्रथम शताब्दी

में वहाँ पर जैन लोग विद्यमान थे यह हमें गर्दभिल्ल और कालकाचार्य के कथानक से स्पष्ट मालूम होता है। गुप्तकालीन एक लेख के अनुसार उदयगिरि (विदिशा मालवा) में पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा करायी गयी थी। मथुरा में प्राप्त जैन पुरातत्त्व सामग्री से यह पता चलता है कि ई. पू. द्वितीय शताब्दी से ई. पू. सं. १० वीं शताब्दी तक यह प्रदेश जैन धर्म का महत्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ था। यहाँ के लेखों में कुषाण राजाओं के उल्लेख हैं। गुप्त राज्य काल के लेख भी प्राप्त हुए है। हरिगुप्ताचार्य तो गुप्त देश के ही पुरूष थे जो तोरमाण (छठी शती) के गुरू थे। मथुरा में प्राप्त प्राचीन जैन स्तूप कोई-कोई विद्वान महावीर से भी पूर्व का बतलाते हैं। कहा जाता है कि इसकी स्थापना सुपार्श्वनाथ की स्मृति में की गयी थी और पार्श्वनाथ के समय में इसका उद्धार किया गया था। मथुरा के पंच स्तूपों का उल्लेख जैन साहित्य में आता है। यहीं से पंचस्तूपान्वय भी प्रारम्भ हुआ हो तो असंभव नहीं।

गुजरात

मथुरा के साथ बल्लभी में चौथी शती के प्रथम पाद में नागार्जुनीय वाचना तथा गुजरात के गिरनार पर्वत के साथ धरसेनाचार्य और पुष्पदन्त तथा भूतबलि (षट्खण्डागम के रचनाकार) के सम्बन्ध से यह प्रतीत होता है कि इस प्रदेश के साथ जैन धर्म का सम्बन्ध ईसा की प्रथम शताब्दी से है। इससे पूर्व भी जैन धर्म का इस प्रदेश के साथ सम्बन्ध रहा है। भगवान नेमिनाथ की चर्या और मुक्ति सौराष्ट्र के स्थलों से ही जुड़ी हुई है। बल्लभी की द्वितीय तथा अन्तिम वाचना से सुस्पष्ट है कि पाँचवी-छठी शती में जैन धर्म इस प्रदेश में काफी सुदृढ़ हो गया था। सातवीं शती के दो गुर्जर नरेशों का इस धर्म का अनुराग था ऐसा उनके दानपत्रों से सिद्ध होता है। वनराज चावडा राजवंश के संस्थापक थे। उनसे जैन धर्म को यहाँ पर प्रोत्साहन मिला। मूलराज का बनाया हुआ अणहिलवाड़ का जैन मन्दिर आज भी विद्यमान है। राजा तोरमाण के गुरू हरिगुप्ताचार्य के प्रशिष्य शिवचन्द्र के अनेक शिष्यों ने गुजरात में जैन धर्म का प्रचार किया तथा अनेक जैन मन्दिर बनवाये।

सोलंकी राजा भीम के मंत्री बिमल शाह ने ग्यारहवीं शती में आबू पर जो मन्दिर बनवाया था वह अपनी कला के लिए जगत् प्रसिद्ध

है । उन्होंने ही चन्द्रावती नगरी बसायी थी । इससे राजा भीम की जैन धर्म के प्रति कितनी सहानुभूति रही होगी यह प्रकट होता है । सिद्ध राजा और कुमारपाल के समय में तो जैन धर्म का यहाँ पर सुवर्णयुग रहा । उसी समय हेमचन्द्राचार्य के कारण जैन धर्म की जो सेवा हुई उसका प्रभाव सदा के लिए रह गया और गुजरात जैन धर्म का एक बलशाली और समृद्ध केन्द्र बन गया । १३वीं शती में वस्तुपाल और तेजपाल नामक श्रेष्ठीबंधुओं ने आबू पर एक मन्दिर बनवाया जो अपनी कला के लिए अद्वितीय है ।

शत्रुंजय और गिरनार के तीर्थ क्षेत्रों को भी अलंकृत करने में अनेक सेठों और राजाओं का योगदान रहा है । खंभात का चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिर भी १२वीं शती में बनवाया गया था और तेरहवीं शती के अन्त में इसका जीर्णोद्धार किया गया था । राजस्थान के अनेक धर्मानुयायियों ने दान देकर इस मन्दिर की समृद्धि बढ़ायी है । तेरहवीं शती में दानवीर सेठ जगडु शाह हुए । वे कच्छ प्रदेश के रहने वाले थे। उन्होंने गिरनार और शत्रुंजय गिरि का संघ निकाला था । वे गरीबों को काफी आर्थिक सहायता करते थे और एक भारी दुष्काल में राजा बीसलदेव के काल में उन्होंने आसपास के राजाओं को सहायता करके प्रजा को भूख से मरने से बचाया था । पेथड़शाह भी इसी समय के आसपास हुए थे । पन्द्रहवीं शती का समय सोम सुन्दर युग कहा जाता है । आचार्य सोम सुन्दर ने जैन धर्म की प्रभावना के लिए जैनों को काफी प्रोत्साहित किया था । पन्द्रहवीं शती में ही लोकाशाह ने स्थानक वासी सम्प्रदाय की स्थापना की थी । पन्द्रहवीं शती में हीरविजय सूरि जैसी एक महान् विभूति का जन्म पालनपुर में हुआ था । उनका अकबर पर अच्छा प्रभाव पड़ा था । जिससे जैन धार्मिक उत्सवों के दिनों में पशु-हिंसा निषेध के फरमान बादशाह ने जारी किए थे । सोलहवीं शती जैनों में हैरक युग के नाम से प्रसिद्ध है ।

राजस्थान

राजस्थान में जैन धर्म का अस्तित्व मौर्यकाल से पूर्व का पाया जाता है । अजमेर के निकट बड़ली (नगरी) से जो शिलालेख मिला है,

वह भारत का प्राचीनतम लेख है। उसमें महावीर निर्वाण के ८०वें वर्ष का उल्लेख है। इस प्रकार ई० पू० पांचवीं शती में वहाँ जैन धर्म विद्यमान था। चित्तौड़ के पास मध्यमिका नामक जो स्थान है उसके नाम से ई० पू० तृतीय शती में एक मुनिशाखा की स्थापना का उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है। मालवा में कालकाचार्य के द्वारा शकों को लाने का उल्लेख है। उस समय अर्थात् ई० पू० प्रथम शताब्दी में राजस्थान का दक्षिणी पूर्वी भाग मालवा में शामिल था। ईसा के पूर्व और पश्चात् की एक-दो शताब्दियों में मथुरा में जैन धर्म बहुत सुदृढ़ था। इसके आधार से यह माना जाता है कि उस समय राजस्थान के उत्तर पूर्वी भाग में भी जैन धर्म प्रचलित होगा। बून्दी के पास केशोराय पट्टन में जैन मन्दिर के भग्नावशेषों की संभावना पाँचवीं शती की की जाती है। सातवीं शती में ह्वेनसांग के वर्णन से भिन्नमाल और वैराट में जैनों का अस्तित्व प्रकट होता है। बसन्तगढ़ (सिरोही) में ऋषभदेव की धातु की मूर्त्ति पर छठी शती का लेख विद्यमान है। आठवीं शती के हरिभद्र सूरि चित्तौड़ के निवासी थे। वीरसेनाचार्य ने पट्खण्डागम् तथा कषायप्राभृत एलाचार्य से ८वीं शती में चित्तौड़ में ही सीखा था। इसी शती में उद्योतन सूरि ने आबू पर बृहद्गच्छ की स्थापना की थी।

राजपूत राजा मुखयंत: विष्णुभक्त और शैव थे फिर भी जैन धर्म के प्रति उनका सौहार्द हमेशा बना रहा है।

प्रतिहार राजा वत्सराज (८वीं शती) के समय का ओसिया में महावीर का मन्दिर आज भी विद्यमान है। मंडौर के राजा कक्कुक ने नवीं शती में एक जैन मन्दिर बनवाया था। कोटा के पास की जैन गुफाएँ ८वीं-९वीं शती की हैं तथा ८वीं से ११वीं शती के जीर्ण मन्दिर भी देखने को मिलते हैं। आघाट (उदयपुर) का पार्श्वनाथ मन्दिर एक मन्त्री के द्वारा १०वीं शती में बनवाया गया था। सिद्धर्षि उसी शती में श्रीमालों में जन्में थे। लोद्रवा (जैसलमेर) में राजा सगर के पुत्रों ने पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था। परमारकालीन १०वीं शती में आबू के राजा कृष्णराज के समय में दियाना (सिरोही) में एक जैन मूर्त्ति की स्थापना की गयी थी। उसी समय के हथुंडी (बीजापुर) के

रठौड़ों से जैन धर्म को सहायता मिलने के उल्लेख हैं। विदग्धराज ने तो एक जैन मन्दिर बनवाया था। छटी से बारहवीं शती तक शूरसेनों का राज्य भरतपुर पर था और उस समय के कुछ राजा जैन थे। इस काल में वहाँ पर बहुत-सी प्रतिष्ठाएँ हुईं। अलवर के मन्दिरो के शिलालेख ११वीं-१२वीं शती के गुर्जर प्रतिहारों के काल के प्राप्त होते हैं।

चौहान पृथ्वीराज प्रथम ने १२वीं शती के प्रारम्भ में रणथंभौर के जैन मन्दिरों पर सुवर्ण कलश चढ़ाये थे। उसके वंशजों का भी जैन धर्म के प्रति सौहार्द बना रहा। बीसलदेव ने एकादशी को कतलखाने बन्द करवा दिए थे। जिनदत्तसूरि बारहवीं शती में हुए। उनका स्वर्गगमन अजमेर में हुआ था। वे मरूधर के कल्पवृक्ष माने गए थे। पृथ्वीराज द्वितीय ने पार्श्वनाथ मन्दिर की सहायता के लिए बिजोलिया नामक गाँव दान में दिया।

वनराज चावडा ने भिन्नमाल से जैनों को बुलाकर पाटन में बसाया था। हेमचन्द्र के काल में राजस्थान में भी जैन धर्म ने काफी प्रगति की। सोलंकी कुमारपाल ने पाली (जोधपुर) के ब्राह्मणों को यज्ञ में मांस के बदले अन्न का उपयोग करने के लिए बाध्य किया था। आबू के जैन मन्दिर भी उसी के काल में बने थे तथा सिरोही का डबाणी गाँव उनकी सहायतार्थ दान में दिया गया था।

सेवाडी के शिलालेखों से मालूम होता है कि वहाँ के राजघराने १०वीं से १३वीं शती तक जैन संस्थाओं की सहायता करते रहे हैं। इसी प्रकार नाड़ौल, नाड़लाई और सांडेराव की जैन संस्थाओं को भी मदद मिलती रही। कुमारपाल के अधीन नाड़ौल के चौहान अश्वराज ने जैन धर्म स्वीकार किया था। १२वीं-१३वीं शतियों में जालौर के जैनों को वहाँ के सामन्तों से सहायता मिलने के लेख विद्यमान हैं। मेवाड़ की एक रानी ने १३वीं शती में चित्तौड़ में पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था। इसी शती में जगचन्द्रसूरि को मेवाड़ के राणा ने तपा की पदवी दी थी और उनका गच्छ तपागच्छ कहलाया। बारहवीं से चौदहवीं शती में झड़ोली, चन्द्रावती, दत्तानी और दियाणा (सिरोही जिला) के मन्दिरों के लिए भूमिदान के लेख मिलते हैं।

कालन्द्री (सिरोही) के पूरे संघ ने १४वीं शती में ऐच्छिक मरण को अपनाया था। जिनभद्र सूरि ने १५वीं शती में जैसलमेर में वृहद्ज्ञान भण्डार स्थापित किया था। राजस्थान में शास्त्र को सुरक्षित रखने का तथा उसकी अनेक प्रतियाँ करवाने का श्रेय इन्हीं को है। १५वीं शती में राणा कुम्भा ने सादड़ी में एक जैन मन्दिर बनवाया था। उन्हीं के काल में जैन कीर्तिस्तम्भ चित्तौड़ के किले में बना था। राणकपुर का जैन मन्दिर भी उसी समय की रचना है जो स्थापत्य कला का एक अत्यन्त सुन्दर नमूना है। राणा प्रताप ने तो हीर विजय सूरि को मेवाड़ में बुलाया था। अकबर के पास जाते समय वे सिरोही में ठहरे थे और उन्हें सूरि की पदवी से वहीं पर ही विभूषित किया गया था। श्वेताम्बर लोंकागच्छ के प्रथम वेशधारी साधु भाणा थे जो अरठवाड़ा (सिरोही) के रहने वाले थे। वे १४७६ में साधु बने थे। तेरापंथ के प्रवर्त्तक भीकम जी भी मेवाड़ के ही थे जो १८वीं शती में हुए।

१८वीं शती में औरंगजेब के काल में कोटा में कृष्णदास ने एक जैन मन्दिर बनाकर बड़ी हिम्मत दिखायी और जैनों के प्रभाव का अच्छा परिचय दिया। समय सुन्दर १६वीं-१७वीं सदी में हुए। वे राजस्थानी के अग्रलेखक माने गए हैं। दिगम्बर तेरापंथ के संस्थापक अमरचन्द्र सांगानेर के थे, जिनका काल १७वीं शती का है। १८वीं शती में जयपुर के गुमानीराम ने गुमानपंथ की स्थापना की थी।

१५वीं शती से १९वीं शती तक राजस्थान में जैन धर्म का जो प्रभाव रहा वह संक्षेप में इस प्रकार अंकित किया जा सकता है : स्थल-स्थल पर मन्दिर बनवाना, प्रतिष्ठाएँ करना, राजपुरूषों से अनुदान के रूप में जमीन प्राप्त करना इत्यादि, स्तूप, स्तम्भ, पादुकाओं तथा उपाश्रयों की स्थापना और मन्दिरों का जीर्णोद्धार करना। इसी काल में राजस्थानी और हिन्दी के साहित्यकार भी हुए। जयपुर के कछवाहों के आधीन करीब ५० दीवान जैन थे, जिनके कारण जैन धर्म को सभी क्षेत्रों में प्रोत्साहन मिला।

मुस्लिम आक्रमण के कारण जैन मन्दिरों की मस्जिदें भी बनायी गयी। १२वीं शती का अजमेर का अढाई दिन का झोंपड़ा व सांचौर

और जालौर की मस्जिदें जैन मन्दिर ही थे। जीरावला पार्श्वनाथ मन्दिर की भी इसी प्रकार क्षति हुई। १६वीं शती में बीकानेर के मन्दिर पर भी आक्रमण हुआ था। कोटा के शाहबाद में इस प्रकार औरंगजेब ने एक मस्जिद बनवायी थी।

राजकारण में जैनों के योगदान के भी कई उदाहरण प्राप्त हैं। कुमारपाल के राज्यकाल में विमलशाह आबू के प्रतिनिधि थे। जालौर का उदयन खम्भात का राज्यपाल था। १६वीं शती के वीर तेजा गदहीया ने जोधपुर का राज्य शेरशाह से राजा मालदेव को वापिस दिलवाया था। दीवान मुहणोत नैनसी, रत्नसिंह भण्डारी, अजमेर के शासक धनराज और कूटनीतिज्ञ इन्द्रराज सिंघी के नाम भी उल्लेखनीय हैं। करमचन्द बीकानेर के राजा का एक दण्डनायक था। मेवाड़ के आशाशाह ने उदयसिंह को शरण दी थी। भामाशाह राणा प्रताप के दीवान थे जिन्होंने प्रताप को आपत्तिकाल में अद्भुत सहायता की थी। ११वीं शती के आमेर के दीवान विमलदास युद्ध में लड़ते-लड़ते मरे थे। दीवान रामचन्द्र ने आमेर को मुगलों से वापिस लिया था। उसका नाम सिक्कों पर भी छपा था।

इस प्रकार यह साबित होता है कि हिन्दू राजाओं के आधीन होते हुए भी राजस्थान में जैनों का प्रभाव और प्रचार राजपूत काल में काफी बढ़ा-चढ़ा था और उसी परम्परा के कारण राजस्थान में अब भी जैन मत के अनुयायी काफी संख्या में पाये जाते हैं।

दक्षिण भारत में जैन धर्म

उत्तर भारत में अकाल पड़ जाने का कारण भद्रबाहु अपने विशाल मुनिसंघ के साथ श्रवण बेलगोल गये। मौर्य राजा चन्द्रगुप्त ने उनके ही शिष्यत्व में वहाँ पर समाधिमरण किया था। परम्परा से यह भी जानकारी मिलती है कि भद्रबाहु ने अपने शिष्य विशाख मुनि को आगे दक्षिण में चोल और पाण्ड्य देशों में धर्म प्रचारार्थ भेजा था। इस घटना के बल पर भद्रबाहु को दक्षिण देश में जैन धर्म के प्रथम प्रचारक का श्रेय दिया जाता है। परन्तु एक विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि भद्रबाहु के पूर्व उस प्रदेश में जैनियों का बिल्कुल अभाव था तो इतने बड़े

मुनिसंघ ने किन लोगों के आधार व आश्रय पर अकस्मात् एक अपरिचित देश में जाने की हिम्मत की होगी। मालूम होता है कि उनके पहले भी वहाँ पर जैनधर्म विद्यमान था और उनके प्रमाण भी मिलते हैं। अशोक के समय में बौद्ध धर्म का प्रचार लंका में उसके पुत्र-पुत्री द्वारा प्रारम्भ किया गया था, परन्तु जैन धर्म का प्रचार तो उसके पहले ही लंका में हो चुका था। अजैन साहित्य इसका साक्षी है। पालि महावंश तथा दीपवंश के अनुसार पाण्डुकाभय के राज्यकाल में अनुराधापुर में निर्ग्रन्थों के लिए निवास स्थान बनाए गए थे। वह काल ई० पू० पांचवीं शती का है। इतने प्राचीनकाल में लंका में जैन धर्म कहाँ से पहुँचा होगा इसका उत्तर खोजते समय स्वाभाविक तौर से यही कहना पड़ता है कि ई० पू० ५वीं और चौथी शती में कलिंग, आन्ध्र तथा तमिल देश से होता हुआ वह लंका में आया होगा। अतः भद्रबाहु दक्षिण देश में जैन धर्म के आदि प्रवर्त्तक नहीं वरन् उसको पुनः जागृत करने वाले थे। जिस प्रकार एक धारा आन्ध्र देश से दक्षिण देश में गयी उसी प्रकार भद्रबाहु के काल से दूसरी धारा कर्नाटक से दक्षिण देश को जैन धर्म से आप्लावित करती रही। इस धारा का ईसा की प्रथम १०-१२ शताब्दियों तक दक्षिण में अविच्छिन्न स्रोत बहता रहा है। वहाँ के अनेक ध्वंशावशेषों, मन्दिर व मूर्त्तियों से यही सिद्ध होता है कि यह धर्म वहाँ पर लोकप्रिय रहा है। पूरे के पूरे राजवंशों के साथ इसका जिस प्रकार का दीर्घकालीन सम्बन्ध रहा है वैसा उत्तर भारत में भी नहीं रहा। इस दृष्टि से दक्षिण देश के प्राचीन इतिहास में जैन युगों के दर्शन किए जा सकते हैं।

द्रविड़ प्रदेश

चन्द्रगुप्त के प्रपौत्र सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार में जो योग दिया था उसके कारण तमिल (द्रविड़) देश में भी जैन धर्म को बल मिला था ऐसा साहित्यिक परम्परा बतलाती है। इस प्रसंग में ई० पू० दूसरी-तीसरी शती के ब्राह्मी लिपि के शिलालेख तथा ईसा की चौथी-पांचवीं शती की चित्रकारी उल्लेखनीय है।[१५] रामनद (मथुरा), तिन्नावली और सितन्नवासल की गुफाओं में उपर्युक्त जैन प्रमाण मिलते हैं, जिनसे मालूम होता है कि ये स्थल जैन श्रमणों के केन्द्र थे।

ईसा की करीब १५ शताब्दियों तक जैन धर्म ने तमिल लोगों के साहित्य और संस्कृति के साथ गहरा सम्बन्ध बनाये रखा है। ईसा की प्रथम शताब्दियों में तमिल देश के साहित्य पर जैनों का प्रभाव सुस्पष्ट है। तमिल काव्य कुरल और तोलकाप्पियम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। कुरल के पश्चात् का अधिकतर शिष्ट साहित्य (classical) जैनों के आश्रय में ही फला-फूला। पाँच प्राचीन महाकाव्यों में से तीन कृतियाँ तो जैनों की हैं। सीलप्पदिकारम् (दूसरी शती), बलयापदि और चिन्तामणि (१०वीं शती) ये तीन जैन ग्रन्थ हैं। अन्य काव्यों मे तीलकेशी, वृहत्कथा, यशोधर काव्य, नागकुमार काव्य, श्री पुराण आदि का नाम लिया जा सकता है। बौद्ध काव्य मणिमेखलइ से भी प्राचीन काल में तमिल देश पर जैनों के प्रभाव और वैभव का काफी दिग्दर्शन होता है।

कुरल के अनुसार मैलापुर तथा महाबलिपुरम् में जैनों की बस्तियाँ थीं। दुसरी शती में मदुरा जैन धर्म का मुख्य केन्द्र था। समन्तभद्र का इस नगरी से जो संबंध रहा है वह सुविदित है। पाँचवीं शती में ही वज्रनन्दी ने यहाँ पर द्रविड़ संघ की स्थापना की थी। कांची प्रदेश के चौथी से आठवीं शती तक के पल्लव राजाओं में बहुत से जैन थे। ह्वेनसांग ने सातवीं शती में कांची को जैनों का अच्छा केन्द्र माना है। सातवीं-आठवीं शती के जैन शिलालेख आरकोट के पास पंचपांडव मलय नामक पहाड़ी पर प्राप्त हुए हैं।

पाँचवीं शती के पश्चात् कलभ्र राजाओं का अधिकार पाण्ड्य, चोल और चेर राज्यों पर हो गया था। यह जैनों का उत्कृष्ट काल था। क्योंकि कलभ्र राजाओं ने जैन धर्म अपनाया था। इसी समय जैन नालदियार की रचना हुई थी। इस प्रकार पाँचवीं से सातवीं शताब्दी तक जैनों का राजनीति पर भी काफी प्रभाव बना रहा। महान् तार्किक अकलंकाचार्य आठवीं शती में हुए थे। तत्पश्चात् शैव और वैष्णव मतों के प्रचार से जैन धर्म अवनति की ओर अग्रसर होने लगा। सातवीं शती का पल्लव राजा महेन्द्र वर्मा जैन था, परन्तु बाद में शैव हो गया। पाण्ड्य राजा सुन्दर पक्का जैनी था, परन्तु उसकी रानी और मन्त्री शैव थे उनके कारण तथा शैव भक्त कवि सम्बन्दर के प्रभाव से वह शैव हो गया। शैव नायनारों के कारण सातवीं-आठवीं शती से जैन धर्म को

काफी धक्का पहुँचा ।

आठवीं शती से वैष्णव अल्वारों ने भी जैनों का जबर्दस्त विरोध करना शुरू कर दिया था । फिर भी ८वीं से १२वीं शती तक के राजाओं ने निष्पक्ष भाव से जैनों के प्रति सहानुभूति भी बरती थी । सितन्नवासल में ८वीं-९वीं शताब्दी के जैन शिलालेख तमिल भाषा में प्राप्त होते हैं। नवीं शती में ट्रावनकोर का तिरूच्छा नट्टुमलै श्रमणों के पर्वत के रूप में विख्यात था । १०वीं-१२वीं शती में चोल और पाण्ड्य देशों में सर्वत्र जैन लोग विद्यमान रहते थे । १३वीं शती में उत्तर आरकोट में जैनों के अस्तित्व के बारे में अच्छे प्रमाण मिलते हैं । तिरूमलै स्थान के १०वीं-११वीं और १४वीं शती तक के शिलालेखों से मालूम होता है कि वह उस समय में जैन केन्द्र बना हुआ था । १५वीं-१६वीं शती का बड़ा से बड़ा कोशकार मंडल पुरूष हुआ जिसने निघंट्ट चूड़ामणि की रचना की ।

आन्ध्र प्रदेश (पूर्वकालीन दक्षिण उड़ीसा, कलिंगादि)

कलिंग देश (तोसलि) में स्वयं महावीर गए थे । नन्द राजाओं के समय में कलिंग उड़ीसा में जैनों का काफी प्रचार हो चुका था । खारवेल के समय ई० पू० दूसरी शती में यहाँ पर जैन धर्म को बहुत प्रोत्साहन मिला क्योंकि वे स्वयं जैन थे । यहाँ के उदयगिरि खण्डगिरि की गुफाओं में १०वीं शती तक के जैन शिलालेख मिलते हैं । सातवीं शती में ह्वेनसांग ने कलिंग देश को जैनों का गढ़ बतलाया है । उसके बाद सोलहवीं शताब्दी में भी उस क्षेत्र के राजा प्रताप रूद्रदेव के जैन सहिष्णु होने के उल्लेख हैं ।

सम्राट सम्पति के द्वारा आन्ध्र प्रदेश में जैन धर्म को फैलाने के उल्लेख जैन साहित्य में आते हैं । ईसा की दूसरी शती में कुडापा में सिंहनन्दि को दो राजकुमार मिले थे जिन्होंने कर्नाटक के गंगवंश की स्थापना की थी । अतः उस समय इस प्रदेश में जैन धर्म काफी प्रचलित होगा । कालकाचार्य के कथानक से राजा सातवाहन हाल की जैन धर्म के प्रति सहानुभूति होने की झलक मिलती है । पूज्यपाद के पाँचवीं शती में आन्ध्र जाने के उल्लेख मिलते हैं । पूर्वी चालुक्यों ने सातवीं शती में इस प्रदेश में जैन धर्म को प्रगति प्रदान की थी । उस समय

विजयनगर के पास रामतीर्थ जैनों का केन्द्र बना हुआ था। आन्ध्र के कोमटी एक समृद्ध वणिक जाति हैं। वे मैसूर से इधर आए थे। गोम्मटेश्वर के भक्त होने के कारण गोमटी से वे कोमटी कहलाने लगे।

आन्ध्र में जैन साहित्य उचित मात्रा में उपलब्ध नहीं हुआ है। मालूम होता है, वह नष्ट कर दिया गया है। क्योंकि पुराने से पुराने तेलगु महाभारत में नन्नय भट्ट ने अपने पूर्व के लेखकों का स्मरण क्यों नहीं किया? इसका कारण यह है कि उसके पूर्व के कवि जैन थे। इसके अतिरिक्त कर्नाटक के पम्प और नागवर्म जैसे बड़े से बड़े कवि या तो आन्ध्र देश के थे या वहाँ से सम्बन्धित थे। इसलिए आन्ध्र में जैन साहित्य की रचना अवश्य हुई होगी जैसा कि तमिल और कन्नड़ भाषाओं में सृजन हुआ है। संस्कृत जैनेन्द्र-कल्याणाभ्युदय की रचना १४वीं शती में वेरंगल अय्यपार्य के द्वारा की गयी थी।

कर्नाटक

भद्रबाहु के श्रवण बेलगोल जाने का उल्लेख ऊपर कर आए हैं। वहीं पर सम्राट चन्द्रगुप्त ने समाधिमरण प्राप्त किया था। उस समय से जैन धर्म का प्रवेश इस प्रदेश में हो चुका था।

ईसा की दूसरी शताब्दी से तेरहवीं शती तक जैन धर्म कर्नाटक का प्रधान धर्म बनकर रहा है। वहाँ के जनजीवन, साहित्य, संस्कृति, कला और दर्शन पर इस धर्म का जो नाना क्षेत्रिय प्रभाव है वह अद्वितीय है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा, सामन्त, श्रेष्ठि और यहाँ तक कि सामान्य प्रजा में इस देश के कोने-कोने में जैन धर्म के प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं। तमिल साहित्य और भाषा के उद्धार और विकास में जैनों ने जो योग दिया उससे भी अधिक कन्नड़ भाषा और साहित्य के विकास में जैनों की विशेष देन रही है। इस साहित्य के किसी भी विभाग जैसा आगम, पुराण, सिद्धान्त, काव्य, छन्दःशास्त्र, व्याकरण, नीतिशास्त्र, भूगोल, गणित, संगीत इत्यादि को जैनों ने अछूता नहीं रखा। जैन कन्नड़ साहित्य की शैली का प्रभाव आन्ध्र देश पर भी पड़े बिना नहीं रहा।

द्वितीय शती में गंगवंश की स्थापना करने में जैन आचार्य सिंहनंदी

का प्रमुख हाथ रहा है। माधव कोनगुणिवर्मा इस वंश के आदि संस्थापक हुए। पाँचवीं शती के पूज्यपाद दुर्विनीत के राजगुरू होने के उल्लेख मिलते हैं, शिवमार, श्रीपुरूष, मारसिंह इत्यादि नरेशों ने अनेक जैन मन्दिर बनवाये तथा मुनियों को दान दिया। मारसिंह (१०वीं शती) ने तो समाधिमरण किया था। वादि धंगल इसी शती के तार्किक थे। राचमल्ल (चतुर्थ) के मंत्री चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर की जो विशाल और अद्‌भूत मूर्त्ति बनवायी वह अपनी कला के लिए जगत विख्यात है। चामुण्डराय पर नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का प्रभाव उल्लेखनीय हैं।

इस वंश के अनेक राजा तथा उनके सामन्त, मन्त्री और सेनापतियों ने जैन धर्म के विविधमुखी कार्यों में योगदान दिया। गंग महादेवी, पंपादेवी, लक्ष्मीमति इत्यादि राजमहिलाओं के नाम इस प्रसंग में लेने योग्य हैं। गंगों की समाप्ति के बहुत पहले ही कदम्बों और राष्ट्रकूटों ने जैन धर्म को अपना लिया था।

वनवासी के कदम्बों में ब्राह्मण धर्म प्रचलित था फिर भी कुछ राजा जैन धर्मी थे। उनमें चौथी शती के काकुस्थवर्मा का नाम उल्लेखनीय है। पाँचवीं शती के श्री विजय, शिव मृगेश वर्मा और श्री मृगेश द्वारा जैनों के श्वेताम्बर, निर्ग्रन्थ, यापनीय और कूर्चक आदि संघों को अलग-अलग भूमिदान करने के शिलालेख प्राप्त होते हैं। हरिवर्मा, रविवर्मा, देववर्मा इत्यादि के द्वारा भी समय-समय पर मन्दिरों व संघों के लिए गाँव और भूमिदान करने के उल्लेख मिलते हैं। इस प्रकार इस प्रदेश में चौथी से छठी शती तक जैन धर्म लोकप्रिय रहा और राज्य-सम्मान प्राप्त करता रहा।

सातवीं शती से राष्ट्रकूटों का काल प्रारम्भ होता है। इस वंश के साथ जैनों का बहुत निकट का सम्बन्ध रहा है। दन्तिदुर्ग खड्गावलोक ने आठवीं शती में अकलंक देव को सम्मानित किया था। अमोधवर्ष प्रथम के गुरू जिनसेन थे जिन्होंने आदि पुराण लिखा है। उनकी प्रश्नोत्तर रत्नमालिका से प्रतीत होता है कि उन्होंने राज्य त्यागकर जैन दीक्षा ग्रहण की थी। उनकी एक अन्य रचना कन्नड़ में अलंकार शास्त्र पर

पायी जाती है । शाकटायन व्याकरण पर अमोधवृत्ति नामक टीका इनके ही नाम पर आधारित है । दशवीं शती में जक्कियब्बे एक वीरांगना तथा सफल शासन कर्त्री थी, जिसने समाधिमरण किया था । इस वंश के अन्य राजाओं की जैन धर्म पर महती श्रद्धा रही है । गुणभद्र, इन्द्रनन्दि, सोमदेव, पुष्पदन्त, पोन्न इत्यादि कवियों का आविर्भाव इन्हीं के काल में हुआ था । राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट जैनों का केन्द्र बन गया था क्योंकि इस वंश के राजाओं का इस धर्म के प्रति विशिष्ट प्रेम रहा है । अन्तिम राजा इन्द्र चतुर्थ ने श्रवण बेलगोल में भद्रबाहु की तरह समाधि-मरण किया था ।

राष्ट्रकूटों के पश्चात् पुनः पश्चिमी चालुक्यों का कर्नाटक पर अधिकार हो गया था । परन्तु इसके पूर्व भी चालुक्यों का जैन धर्म के प्रति प्रेम बना हुआ था । ऐहोल का रविकीर्ति का शिलालेख अपनी काव्यात्मक शैली के लिए प्रसिद्ध है । यह सातवीं शती के पुलकेशी द्वितीय के समय का है । उस स्थान का मेघुटी मन्दिर रविकीर्ति ने बनवाया था । बादामी और ऐहोल की जैन गुफाओं की रचना इसी समय में हुई थी ।

पश्चिमी चालुक्य वंश के संस्थापक तैलप द्वितीय (१०वीं शती) की जैन धर्म के प्रति अच्छी आस्था थी । इसी के आश्रय में कविरत्न रण्ण ने अजित पुराण कन्नड़ भाषा में लिखा था । दशवीं शती की एक सेनानायक की पुत्री अत्तिमब्बे अपनी दानशीलता के लिए उल्लेखनीय है । ११वीं शती में भी इसी प्रकार का सहारा जैनों को मिलता रहा। वादिराज का पार्श्वनाथ चरित उसी समय का है । श्रीधराचार्य की ज्योतिष विषयक कृति कन्नड़ में सबसे पुरानी रचना है, जो सोमेश्वर प्रथम के समय में रची गयी थी । इस वंश के अन्य राजाओं ने भी जैन धर्म की उन्नति के लिए पर्याप्त सहायता की । इस प्रकार यह राजवंश जैन धर्म का संरक्षक रहा तथा साहित्य सृजन में इसने काफी प्रोत्साहन दिया । जैन मन्दिरों और संस्थाओं को दान के जरिए इनके द्वारा बल मिलता रहा ।

होयसल राजवंश को ११वीं शती में संस्थापित करने का श्रेय एक जैन मुनि को ही है । मुनि वर्धमान देव का प्रभाव विनयादित्य के

शासन प्रबन्ध पर काफी बना रहा । कितने अन्य राजाओं के गुरू जैनाचार्य रहे हैं । १२वीं शती के नरेश विष्णुवर्धन पहले जैन थे परन्तु बाद में रामानुजाचार्य के प्रभाव में आकर वैष्णव धर्म स्वीकार किया । उस समय से विष्णु धर्म का प्रभाव बढ़ता गया, फिर भी शिलालेखों से उनका जैन धर्म के प्रति स्नेह झलकता है । उनकी रानी शांतल देवी ने तो आजन्म जैन धर्म का पालन किया । विष्णुवर्धन के कई सेनापति और मन्त्री जैन धर्म के उद्धारक बने रहे । गंगराज, उनकी पत्नी लक्ष्मीमती, बोप्प, मनियाने, भरतेश्वर आदि इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं । उसके बाद नरसिंह प्रथम, वीर बल्लाल, नरसिंह तृतीय तथा अनेक राजाओं ने जैन मन्दिर बनाये, दान दिया तथा जैन धर्म को समृद्धिशाली बनाया । इस प्रकार बारहवीं-तेरहवीं शती तक जैनों का अच्छा प्रभाव रहा है । नरसिंह प्रथम के चार सेनानायक तथा दो मन्त्री जैन थे । वीर बल्लाल के शासन में भी कितने ही जैन मन्त्री और सेनानायक थे ।

इनके अलावा छोटे-छोटे राजघरानों ने भी ७वीं से १३वीं शती तक जैन धर्म का पोषण किया । इस कारण यह धर्म सार्वजनिक बन सका तथा सभी दिशाओं से इसको बल मिलता रहा । ऐसे घरानों में सान्तर नरेश कांगल्व और चांगल्वों तथा करहाड़ के शीलहार राजपुरूषों के जैनोपकारी कार्यों को गिनाया जा सकता है । इनके साथ-साथ अनेक सामन्त, मन्त्री, सेनापति, सेठ, साहुकार और कई महिलाओं के धर्म प्रभावना के विविध तरह के वैयक्तिक कार्यों को ध्यान में लिया जा सकता है ।

विजयनगर काल

विजयनगर साम्राज्य की स्थापना १४वीं शती में हुई । उस समय जैन धर्म अस्वस्थ अवस्था में था । परन्तु सहनशीलता और धर्म निरपेक्षता की जो उदारनीति वहाँ के राजाओं ने अपनायी इससे जैन धर्म को काफी राहत मिली । बुक्कराय प्रथम जैनों के शरणदाता थे । सेनानायक इरूगप्प जैन था, उसके कारण जैन धर्म को १४वीं-१५वीं शती में प्रोत्साहन मिला । श्रवण बेलगोल, बेलूर, हलेवीड़ इत्यादि स्थानों में अन्य धर्मावलम्बियों ने जैनों के साथ प्रेमभावना बढ़ायी । पन्द्रहवीं

शती के देवराज प्रथम तथा द्वितीय ने जैनों को सहायता दी थी।

विजयनगर की मुख्य राजधानी में जैनों की जड़ें इतनी मजबूत नहीं थीं, परन्तु जिलों में अधिकृत राजघरानों के आश्रय में जैन धर्म का पोषण अच्छी तरह से होता रहा। १६वीं शती के कवि मंगरस ने कितने ही जैन स्थल बनवाये तथा कन्नड़ में कितने ही ग्रन्थ रचे। १४वीं से १७वीं शती तक संगीतपुर, गेरसोप्पे, कारकल इत्यादि जैनों के अच्छे केन्द्र रहे हैं। बेलारी, कुडाप्पा, कोयंबटूर आदि जिलों में तथा कोल्हापुर, चामराजनगर, रायदुर्ग, कनकगिरि इत्याादि में भी जैनों का प्रभाव बना रहा। श्रृंगेरी ने १२वीं से १६वीं तथा बेलूर ने १४वीं से १९वीं शती तक जैन धर्म की रक्षा की।

उस काल के सिंहकीर्त्ति, वादी विद्यानंद आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा कितने ही साहित्यकार और पण्डित उस समय में हुए जो जैन धर्म की सेवा करते रहे। इनमें पण्डित बाहुबलि, केशववर्णि, मधुर, यश-कीर्त्ति, शुभचन्द्र इत्यादि को गिनाया जा सकता है।

यह है जैन धर्म के प्रसार का ऐतिहासिक सिंहावलोकन। अपने प्रारम्भिक काल से मध्ययुगीन काल तक जैन धर्म उचित रूप से पनपता रहा। यह पूर्व देश से दक्षिण और पश्चिम की ओर उतरोत्तर विकासशील होता गया, यहाँ तक कि दक्षिण में तो वह सुवर्ण युगों में पला। इन आधारों पर से जैनों की संख्या उस समय अन्य धर्मियों के अनुपात में अधिक रही होगी ऐसा अनुमान लगाने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कही जा सकती। एक समय दक्षिण देश में जैनों और बौद्धों का ही बोलबाला था। उस प्रदेश में हिन्दू धर्म ने बाद में प्रवेश किया है, पहले वहाँ पर हिन्दू धर्म की अवस्था बिल्कुल विपरीत-सी लगती है। जैनों की संख्या अनूपात में कम हो गयी है, इस अवनति के क्या कारण हो सकते हैं? पूर्व काल में अनेक उच्चकोटि की विभूतियाँ विविध क्षेत्रों में हुई, उनकी संख्या उतरोत्तर काल में घटती ही गयी है। पहले का शासन प्रेम, उदारवृत्ति और निःस्वार्थ सेवा आजकल क्षीण होती जा रही है। सामान्य प्रजा की अनुकूलता के अनुसार धर्म की गतिशीलता बन्द-सी हो गयी है, जबकि यह सर्वविदित है कि गति ही जीवन है। एक तरफ छोटी-

छोटी बातों में अधिक से अधिक सूक्ष्मदर्शी हो गए हैं जिनकी उपादेयता सीमित हैं, तो दूसरी ओर बड़ी-बड़ी बातों में उदासीन वृत्ति घर कर गयी है जिनका कार्य क्षेत्र विस्तृत है और जो वास्तविक रूप में जीवन के सहअस्तित्व से सम्बन्धित हैं। अनेकान्त और स्याद्वाद पुस्तकों और सिद्धान्तों तक ही सीमित रह गया। सामाजिक और धार्मिक जीवन में उसे पूर्ण शक्ति से अपनाने के अनिवार्य प्रयास ही नहीं हुए। इधर देखें तो गृहस्थ धर्म पर साधु धर्म का प्रभाव बढ़ गया है तो उधर साधु धर्म में गृहस्थ कर्मों का प्रवेश। दो विभिन्न क्षेत्रों की मर्यादाओं का अतिक्रमण होने से साधारण जीवन दुरूह-सा हो रहा है। भगवान महावीर ने उपासक आनन्द को गृहस्थ धर्म के व्रतों को धारण करवाते समय यह कभी भी नहीं कहा था कि तुम कृषिकार्य का त्याग कर दो। उन्होंने तो इतना ही कहा था कि 'अहा सुहं' धर्माचार स्वीकार करो। अर्थात् अपनी शक्ति और मन के परिणामों के अनुसार धार्मिक मर्यादाओं का पालन करो। लेकिन अर्वाचीन धर्म का स्वरूप ही बदल गया है। कृषिकार्य को घृणास्पद समझा जाता है, उसमें हिंसा मानी जाती है जबकि 'विरूद्धरज्जाइकम्म', 'कूडतुलकूडमाण' और 'तप्पडिरूवगववहार' (अर्थात राज्य के कानूनों के विरूद्ध कार्य करना, झूठे तोल और झूठे नाम का प्रयोग करना और नकली वस्तुओं को असली के रूप में चलाना) नामक अतिचारों के पोषण में गौरव समझा जाने लगा है। कृषिकार्य साधु तथा गृहस्थ के जीवन को निभाने के लिए मौलिक आवश्यकता है, जिस प्रकार वायु प्राणधारण के लिए। उस हिंसा को हिंसा नहीं माना गया है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ ने तो स्वयं ही कृषिकार्य का उपदेश दिया था। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए कृषिकार्य-विरोधी उपदेश कहाँ तक उचित और योग्य ठहरते हैं। ऐसी ही अनेक वातें और मुद्दे हैं जिन पर गृहस्थ, साधु, विद्वान और आचार्य समुदाय को विचार करना चाहिए तथा उन मूल कारणों को ढूंढ़ निकालना चाहिए जिनके फलस्वरूप जैन धर्म का ह्रास होता जा रहा है, जबकि आबादी की संख्या के अनुपात से काफी अधिक मात्रा में साहित्य भंडार, कलाकृतियाँ और अन्य सांस्कृतिक सामग्री प्रस्तुत धर्मावलम्बियों के पास में विद्यमान हैं।

१. महाभाष्य, २. ४. ९ ।
२. शान्ति पर्व, ३४०, ७२-७३, ९९-१००; भागवत पुराण, ३.१२ ।
३. भागवत पुराण, ५.३, ५.६; शिव महापुराण ७-२ ।
४. ऋग्वेद, १०. १३६ ।
५. ऋग्वेद, ७.२१.५, १०.१९.३ ।
६. अथर्व वेद, २०, १३६. ११ ।
७. ऋग्वेद, १, १६३८, ९.१४.२ ।
८. अथर्व वेद, अध्याय १५ ।
९. अध्याय १० ।
१०. ऋग्वेद ८.३.१८, १०.७२.७; तैतरीय संहिता, २.४.९.२; ऐतरेय ब्राह्मण, ७,२८।
११. ताण्ड्य ब्राह्मण, १४.११.२८, १८.१.९ ।
१२. Vide Indian Philosophy, Part I, by Dr, S. Radha Krishnan, P. 287.
१३. उत्तराध्यन, अ ९; Voice of Ahimsa, Sep.-Oct. 1958. (Dr. H.L. Jain's article)
१४. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ १९; Vide Jainism the Oldest Living Religion by J. P. Jain, P.22.

संदर्भ ग्रन्थ :

१५. Studies in South Indian Jainism by M.S.R. Ayyangar & B.S. Rao, Madras, 1922.
१६. Jainism in North India by C.J. Shah, 1932.
१७. Mediaeval Jainism by B.A. Saletore, Bombay, 1938.
१८. Jainism in Gujrat by C.B. Sheth, Bombay, 1953
१९. Jainism in Bihar by P.C. Roy Choudhury, Patna, 1956.
२०. Jainism in South India by P.B. Desai, Sholapur, 1957.
२१. Jainism in Rajasthan by K.C. Jain, 1963.
२२. Mahavira Jayanti Souvenir, 1964, Bharat Jain Mahamandal, Calcutta.
२३. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, डा० ही० ला० जैन, भोपाल, १९६२.
२४. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पं० कै० च० शास्त्री, वाराणसी, १९६३.

संकलन

अष्टापद तीर्थ कहाँ है ?

जैन ग्रंथो में "कैलाश" नाम से वर्णित ये तीर्थ अयोध्या के उत्तर दिशामें बताया गया है जहाँ हिमालय पर्वत है । शोध करने वालो की मान्यता है कि उत्तर भारत के अलमोड़ा शहर से करीब २५० मील दूर तिब्बत प्रदेश में हिमालय के बीच शिखरमाला में इस तीर्थ (अष्टापद) के होने की संभावना है क्यों कि यहाँ का विभाग पर्वतीय नहीं कुदरती है जैसे किसी ने इसे काटकर बनाया है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है ।

वर्तमान में भारतीय सरहद इस पर्वत से लगभग ४०/४५ मील दूर है । जो कुदरती पर्वतो में चढ़ाण-उठान और ढलान होती है, इस पर्वत में ऐसा कुछ देखने को नहीं मिलता है ।

यह पर्वत आसपास की पर्वत-श्रृखलाओं में सब से ऊँची है । चारो दिशाओं में अगर खड़े हो कर देखा जाये तो यह पर्वत चारो तरफ से एक जैसा ही दिखायी देता है । इसके चारो तरफ खाई-खीण है । इस पर्वत के भाग मे निचले चारो तरफ चार-कोण जैसा है और ऊपरी भाग गोल दिखता है । इस का शिखर तलहटी से ४/५ हजार फूट और समूद्र (Sea-level) से २३ हजार फूट ऊँचा है ।

इस पर्वत की रचना ठीक समवसरण की रचना जैसी है । इस के चारो तरफ खाई-खीण-खाड़ा में चौबीस घण्टा रूई जैसी धवल बर्फ (गिरती) बरसती रहती है । चारो तरफ ये बर्फ से ढका हुआ है । पहाड़ पर चढ़ने वाले लोग इस पर्वत के निकट जा नहीं सकते । चार-एक मील दूर से ही इस दृश्य को देखकर सन्तुष्ट होना पड़ता है । इसका शिखर गोल-गुम्बद जैसा है और हिम से आच्छादित है । इस शिखर के बीचो-बीच "कलश" के आकार का बर्फ से ढका हुआ एक जैसा प्रतीत होता है । इसकी सब से ऊँची चोटी पर सुवर्ण की चमक जैसा प्रकाश निकलता है ।

इस पर्वत की परिक्रमा-प्रदक्षिणा पथ का घेराव लगभग ४० मील है। इस पर्वत को लोग कैलाश, शंकरधाम आदि नाम से जानते हैं। तिब्बत के लोग इसे "कांगरिक पौच" यानी बुद्ध का निर्वाण-स्थल मानते हैं।

इस पर्वत के दक्षिण दिशा में सोने की और उत्तर दिशा में चान्दी की खाने हैं और आसपास गरम पानी के झरने भी काफी संख्या में बहते हैं।

अलमोड़ा से इस पर्वत तक पहुँचने के लिए पैदल ही चलना पड़ता है। लगभग २५ दिन लगते हैं। इस पर्वत से कुछ दूर 'रक्षा' नाम का एक सरोवर है जो उत्तर-दक्षिण में २० माईल और पूर्व-पश्चिम में ६/७ माईल दूर है। मानसरोवर का पानी अत्यन्त निर्मल है और ५०० फूट गहरा है। जब पवन मन्द गति से बहता है तब सरोवर का तल-भाग बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ हँस आदि पक्षी काफी संख्या में आते हैं। जैन मुनि स्वामी प्रणवानन्द दो वर्ष तक यहाँ रह चुके हैं। उन्होनें अपनी पुस्तक "कैलाश एण्ड मानसरोवर" के १० वें पेज पर इस का माहात्म्य वर्णन किया है। पुस्तक में अष्टापद यानी कैलाश का चित्र भी देखने में आया है।

अनुवाद- श्रीमती सविता सिंह

साभार–
कल्याण पत्रिका (गुजराती)
नवम्बर १९९९८

BOYD SMITHS PVT. LTD.
8, Netaji Subhas Road
B-3/5 Gillander House, Calcutta - 700 001
Ph: (O) 220-8105/2139, Resi : 324-0629/0319

NAHAR
5/1, A.J.C. Bose Road, Calcutta - 700 020
Ph: 247-6874, Resi : 244-3810

KUMAR CHANDRA SINGH DUDHORIA
7, Camac Street, Calcutta - 700 017
Phone : 282-5234/0329

ARIHANT JEWELLERS
Mahendra Singh Nahata
57, Burtalla Street, Calcutta - 700 007
Phone : 238-7015, 232-4087/4978

CREATIVE LIMITED
12, Dargah Road, Post Box : 16127, Cal - 17
Ph: (033) 240-3758/1690/3450/0514
Fax : (033) 240 0098, 2471833

KUMAR PAL BAHADUR SINGH DUGAR
2F, Garcha First Lane, Calcutta - 700 019
Phone : (O) 2378841/7539
(R) 475-9712/2807

IN THE MEMORY OF PRABHAT NAHATA
PRADIP NAHATA
139/C/4 Anand Palit Road, Calcutta - 700 014
Phone : 2445839

IN THE MEMORY OF SOHANRAJ SINGHVI
VINAYMATI SINGHVI
13/4 Karaya Road, Calcutta - 700 019
Ph. : (O) 2208967, (R) 2471750

GAUTAM TRADING CORPORATION
32, Ezra Street, Calcutta - 700 001
6th Floor, Room No - 654
Phone : (O) 2350623, (R) 239-6823

VEEKEY ELECTRONICS
36, Dhandevi Khanna Road
Calcutta - 700 054
Phone : 352-8940/334-4140 (R) 352-8387/
9885

SUDERA ENTERPRISES PVT. LTD.
1, Shakespeare Sarani, Calcutta - 700 071
Phone : 282-7615/7617/2726
Gram : Sudera

N. K. JEWELLERS
Gold Jewellery & Silver Ware Dealers
2, Kali Krishna Tagore Street, Calcutta - 700 007

MAHASINGH RAI MEGH RAJ BAHADUR
Goal Para, Assam

TARUN TEXTILES (P) LTD.
203/1, Mahatma Gandhi Road, Calcutta - 700 007
Phone : 238-8677/1647, 239-6097

ELECTRO PLASTIC PRODUCTS (P) LTD.
22, Rabindra Sarani, Calcutta - 700 073
Phone : 236-3028, 237-4039

PRITAM ELECT. & ELECTRONICS PVT. LTD.
22, Rabindra Sarani, Shop No. G-136
Calcutta - 700 073, Ph: (033) 236-2210

IN THE MEMORY OF LATE
JITENDRA SINGH NAHAR
Rabindra Singh Nahar
40/4A, Chakraberia South, Calcutta - 700 020
Phone : (O) 244-1309, (R) 475-7458

SMT. ANGOORI DEVI SINGHI
'SINGHI PARK'
48/3 Gariahat Road, Calcutta - 700 019
Phone : 4642851/3511

SURAJ MAL TATER
C/o Surajmal Chandmal
137, Bipin Behari Ganguli Street
Calcutta - 700 012
Phone : Shop - 227-1857 (R) 238-0026

VISHESH AUTOMATIONS PVT. LTD.
Dealers of IBM, HCL-H.P. Seimens & Toshiba
16D, Ashutosh Mukherjee Road
Calcutta - 700 020, Phone : 476-2994, 455-0137
Fax : 91-33-4552151

MUSICAL FILMS (P) LTD.
9A, Explanade East
Calcutta - 700 069

PANKAJ NAHATA
Oswal Manufacturers Pvt. Ltd.
Manufacturers & Suppliers of Garments & Hosiery Labels
4, Jagmohan Mallick Lane, Calcutta - 700 007
Phone : (O) 238-4755, (R) 238-0817

APRAJITA
Air Conditioned Market
Calcutta - 700 071
Ph : 282-4649, Resi : 247-2670

P. C. JAIN
B-14, Sarvodaya Nagar, Kanpur - 208005
Ph: 29-5552/29-5955

MANI DHARI TAR UDYOG
Manufactureres of Flexible Ribbon,
Hookup, Main Cards, P.V.C. Insulated Wires and Cables.

THENWAR LAL JAIN
96, Old Roshan Pura, Najaf Garh
New Delhi - 110043, Ph. (O) 5016527
(R) 545 3415, 542 3304
Mobile : 9811075330,

ASHOKE KUMAR RAIDANI
6, Temple Street, Calcutta
Ph: 237 4132/236 2072

B. W. M. INTERNATIONAL
Manufacturers & Exporters
Peerkhanpur Road, Bhadohi - 221401 (U.P.)
Ph : (O) 05414-25178, 25778, 25779
Bikaner Ph : 0151-522404, 25973
Fax: 05414-25378 (U.P.) 0151- 61256 (Bikaner)

C. H. SPINNING & WEAVING MILLS PVT. LTD.
Bothra ka Chowk, Gangasahar, Bikaner

SUDIP KUMAR SINGH DUDHORIA
Indian Silk House Agencies
129, Rasbehari Avenue
Calcutta, Phone : 464-1186

BALURGHAT TRANSPORT LTD.
170/2/C, Acharya Jagadish Bose Road
Calcutta, Phone : 284-0612-15
2, Ram Lochan Mallick Street
Calcutta - 700 073

A.C. LOCKS CO.
22 Bonfield Lane, Calcutta - 700 007

ROYAL TOUCH OVERSEAS CORPORATION
47, Pandit Purushottam Roy Street
2nd Floor, Calcutta -700 007
Ph: (033) 230-1329, 232-1033
Fax: 91-33-2302413

SURANA MOTORS PVT. LTD.
24A, Shakespeare Sarani
84 Parijat, 8th Floor, Calcutta - 700 071
Phone: 2477450/5264

UJJWAL TRADING PVT. LTD.
Regd Office :11, Clive Row
3rd Floor, Room no. 14
Cal -700 001, Ph: (O) 242-4131/4756

SAGAR MAL SURESH KUMAR
187, Rabindra Sarani
Calcutta - 700 007
Phone -Gaddy-233-1766/238-8846
Mobile : 98 3102 8566
Resi : 355-9641/7196

M/S. METROPOLITION BOOK COMPANY
93, Park Street, Calcutta - 700 016
Ph: 226-2418, Resi : 464-2783

JAYSHREE EXPORTS
A Govt. of India Recognised Export House
105/4 Karaya Road, Calcutta - 700 017
Phone : 247-1810/1751, 240-6447
Fax : 91-33247-2897

MAHAVIR COKE INDUSTRIES (P) LTD.
1/1A Biplabi Anukul Chandra Street
Calcutta - 700 072
Ph : 215-1297, 236-4230/4240

ARBEITS INDIA
8/1, Middleton Road, 8th Floor, Room No. 4
Calcutta - 700 071, Ph: 2296256/8730/1029
Resi : 2476526/6638/2405126
Telex : 021 2333, ARBI IN, Fax : 226-0174

HARAK CHAND NAHATA
21, Anand Lok, New Delhi - 110049
Ph : 646-1075

LALCHAND DHARAMCHAND
Govt. Recognised Export House
12, India Exchange Place, Calcutta - 700 001
Ph: (B) 220-2074/8958 (D) 220-0983/3187
Cable : SWADHARMI, Fax : (033) 2209755
Resi : 464-3235/1541, Fax : (033) 4640547

GRAPHITE INDIA LIMITED
Pioneers in Carbon/Graphite Industry
31, Chowranghee Road, Calcutta -700016
Ph: 2264943, 292194, Fax: (033) 2457390

GRAPHIC PRINT & PACK
13A, Dacars Lane (Ground Floor) Calcutta-69
Phone : 248-1533, 248-0046

RATAN LAL DUNGARIA
16B, Ashutosh Mukherjee Road
Calcutta - 700 020, Ph: (R) 455-3586

GLOBE TRAVELS
Contact for better & Friendlier Service
11, Ho Chi Minh Sarani, Calcutta - 700 071
Phone : 282-8181

SURENDRA SINGH BOYED
Sovna Apartment
15/1 Chakrabaria Lane
Calcutta - 700 026
Phone : 476-1533

CALTRONIX
12, India Exchange Place
3rd Floor, Calcutta - 700 001
Phone : 220-1958/4110

MOTILAL BENGANI CHARITABLE TRUST
12 India Exchange Place
Calcutta - 700 001, Phone : 220-9255

Dr. ANJULA BINAYIKA
M.D. DND, M.R.C.O.G (London)
12, Prannath Pandit Street
Calcutta - 700 025, Phone : 474-8008

ABHANI BACHHRAJ
Fancy Saree Emporium
156, J. L. Bajaj Street, 1st Floor, Calcutta - 700 007
Ph : Shop- 238-6582, 239-0079
Resi- 483988/2573

APARAJITA BOYD
9/10, Sitanath Bose Lane, Salkia
Howrah - 711 106, Phone : 665-3666/2272

SMT. KUSUM KUMARI DOOGAR
166, Jodhpur Park, Calcutta -700068
Phone: 4720610

विशुद्ध केशर तथा मैसूर की सुगन्धित चन्दन की लकड़ी,
वरक एवं धूप के लिये पधारें
SHRI JAIN SWETAMBER SEVA SAMITI
13, Narayan Prasad Babu Lane
Calcutta - 700 007, Phone : 239-1408

SIDDHA NIKETAN
Golden Chance to book flat in Jaipur
8, Ho Chi Minh Sarani
Calcutta - 700 071, Ph : 282-2164/4577

AJAY DAGA, AJAY TRADERS
203/1 M.G. Road, Calcutta - 700 007
Phone : (O) 238-9356/0950
(Fact) 557-1697/7059

BALCHAND SOHANLAL
5, Karbala Mohammed Street
Calcutta - 700 001, Phone : 953902/252759
Fax : 033-252902

AKHILESH KUMAR JAIN
JUTE BROKER
9, India Exchange Place, Calcutta - 700 001
Phone : 221-4039, 210-2760, (R) : 660-1604

COMPUTER EXCHANGE
'Park Centre' 24 Park Street
Calcutta - 700 016, Phone : 229 5047, 9110

ACARDIA SHIPPING LTD.
22, Tulsiani Chambers
Nariman Point, Bombay - 400 021

NARENDRA JAIN
Super Iron Foundry
7, Rabindra Sarani, Calcutta - 700 001
Phone : 225-3785/0069
Works : 651-3144
Fax : 91-33-2250198, 943333, 954321
(Resi) 554 1289

SUNDERLAL DUGAR
R.D.B. Industries Ltd.
Regd. Off : Bikaner Building
8/1 Lal Bazaar Street, Calcutta - 700 001
Ph : 248-5146/6941/3350, Mobile : 9830032021
Office : Tobacco House
1/2, Old Court House Corner
Calcutta - 700 001, Ph : 220-2389/3570/3569

BHANWARLAL KARNAWAT
BEEKY TAI FEB UDYOG PVT. LTD.
City Centre, Room No. 534 & 535, 5th Floor
16, Synagauge Street, Calcutta - 700 001
Ph : 238-7281, 230-1739

ABHAY SINGH SURANA
Surana House
3, Mango Lane, Calcutta - 700 001
Phone : 248-1398/7282

VIJAY AJAY
9, India Exchange Place
Room No - 4/2, 4th Floor, Calcutta - 700 001
Phone : (O) 220-6974/8591/7126, 243-4318
Fax : 220 6974

KESARIA & CO.
Jute Tea Blenders & Packeteers Since 1921
2, Lal Bazar Street, Todi Chambers, 5th Floor
Calcutta - 700 001
Phone : (O) 248 8576/0669/1242
Resi - 225 5514, 237 8208, 229 1783

DHARAM CHAND SARAOGI SMRITI NYAS
'Jain House'
8/1 Esplanade East
Calcutta - 700 069

IN THE MEMORY OF VIJAY SINGH BADER
Ratan Bader, Sudarsan Bader
26, Indian Mirror Street
Calcutta - 700 013, Phone :

GYANI RAM HARAK CHAND SARAOGI CHARITABLE TRUST
P-8 Kalakar Street, Calcutta - 700 007
Phone : 239 6205/9727

ASHOK TRADING COMPANY
Authorised Distributors of
J.K. Engineering Steel Files & Drills I.T. Cuttings, Tools
Miranda Tools & (Hacksaw Blades) BIPICO-ECLIPSE
18C, Sukeas Lane, Calcutta - 700 001
Ph : 242-2345/4461

FORT GLOSTER INDUSTRIES
31 Chowranghee Road, Calcutta - 700 016
Ph : 2462289 (Direct), 2498243/44/45
2490846,2454242, 2469551
Resi- 4553632/4399, Fax : (91) 033-2495665
Gram : gloscab, E-mail : gloster ho @ sms
sprintrgg ems V.S.N.L. Net in

SPACE 'N' WINGS
Travel Agents
Domestic & International Airlines
Phone : 242-7806/8835/5852
10, Dr. Rajendra Prasad Sarani (Clive Row)
1st Floor, Calcutta - 700 001
Fax : 242 8831
P.S.A. Biman Bangladesh Airlines

D. K. SYNTHETICS
Whole Sale Dealer
180, Mahatma Gandhi Road
Mullick Kothi, 1st Floor, Calcutta - 700 007
Phone : Shop - 232-6040, (R) 684181

S. P. SYNTHETICS
House of Exclusive Shirtings
38 Armenian Street, 1st Floor, Calcutta - 700 001
Phone : 235 7312, Shop : 230 1180
Resi : 241 6831

H. R. ELECTRICALS
Dealers in Electrical Switch gear, starter & spare parts
Siemens, English Electric L.T/ L.K. B.C.H., etc.
32, Ezra Street, 7th Floor, Room No - 712A
South Block, Calcutta - 700 001
Room No - 314, 3rd Floor
Phone : (O) 2355009/1299, (R) 660-4332

BOTHRA & BOTHRA
12, Noormal Lohia Lane
2nd Floor, Calcutta - 700007
Phone : Shop 230 0216, (R) - 2359657/9312

CHUNNILAL ASHOK KUMAR
30, Cotton Street, 3rd Floor, Calcutta - 700 007
Phone : 2387764, (R)6664541, 5309286

MAUJIRAM PANNALAL
Citizen Umbrellas
45, Armenian Street, Calcutta-700 007
Ph : Shop-242-4483/9181, (O) 238-1396/1871
Fax : 231-2151/666-6013

SATKAR CONSTRUCTION PVT. LTD.
Gujrat Mansion, 5th Floor
14, Bentick Street, Calcutta-700 001
Ph : 248-4730/6256/9867, Direct : 248-6477/6169
Resi : 478-0765/458-3397, Mobile : 98300-30618
Fax : 248-6169

JAICHAND VINODKUMAR
Exclusive Wholesaler of Fancy Sarees
1/1, Noormal Lohia Lane, 2nd Floor, Calcutta-700 007
Phone : 238-3328/9678, 239-3450
Resi : 247-6785/7086, 40-0325/3995
Fax : 239-3450, 247-7526
Telex : 217761 JVS-IN Gram MINNI-BROS

BHEEKAM CHAND DEEP CHAND BHURA
D.C. Group Pvt. Ltd.
Sagar Estate, 5th Floor
2, Clive Ghat Street, Calcutta-700 001
Phone : 220-4779/0131/5721

जो हिंसात्मक प्रवृति से विलग है,
वही बुद्ध, ज्ञानी हैं
WITH BEST WISHES

S. VIJAY CHAND
Vinay Textiles
Whole Sale Merchants
113B Manohar Das Katra, Calcutta-700 007
Phone : Shop - 238-1388, (R) 247-6105/2750
'Guddi' 10, Jamunalal Bajaj Street
2nd Floor, Calcutta-700 007

LILY SUKHANI
7 Bright Appartment, Flat No- 7C
7 Bright Street, Calcutta - 700 019
Phone : 287 0448.

PARK PLACE HOTEL
'Singhi Villa'
49/2 Gariahat Road, Calcutta - 700 019
Phone : 475 9991/92/7632.

NAKODA METAL
Deals inall kinds of Alumonium
32A Brabourne Road
Calcutta - 700 001
Phone : 2352076, 2355701

भागवत पुराण के अनुसार
ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक हैं ।

Shri Radha Krishnan

卐

HINDUSTAN GAS & INDUSTRIES LTD.
ESSEL MINING & INDUSTRIES LTD.

Registered Office
"Industry House"
10, Camac Street, Calcutta - 700 017
Telegram : 'Hindogen' Calcutta
Phone : (033) 242-8399/8330/5443
Fax : (91) 33 2424998/4280

Manufacturers of
Engineers' Steel Files & Carbon Dioxide Gas
At Tangra (Calcutta)
IronOre and Manganese Ore Mines
In Orissa
S. G. Malleable & Heavy Duty Iron Castings
At Halol (Gujrat)
Ferro Vanadium and Ferro Molybdenum
At Vapi (Gujrat)
High Purity Nitrogen Gas
At Mangalore
H.D.P.E./P.P. Woven Sacks
At Jagdishpur (U.P.

जैन धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है
यह किसी का अनुकरण नहीं है ।
Dr. Jacobi

卐

R. C. BOTHRA & COMPANY PVT. LTD

**Steams Agents, Handling Agents,
Commission Agents & Transport Contractors**

Regd. Office
2, Clive Ghat Street,, (N. C. Dutta Sarani)
Calcutta - 700 001
6th Floor, Room No. 6, Phone : 220-6702, 220-6400
Fax : (91) (33) 220-9333

Vizag Office
28-2-47 Daspalla Centre
Vishakhapatnam - 530020, Phone : 569208/563276
Fax : 91-0891-569326, Gram : BOTHRA

जैन मत तब से प्रचलित है
जबसे संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ ।
मुझे इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है
कि जैन धर्म वैदान्तिक दर्शनों से पूर्व का है ।

Dr. Satish Chandra
Principal Sanksrit College, Calcutta

Estd. Quality Since 1940

BHANSALI

Quality. Innovation. Reliability

BHANSALI UDYOG PVT. LTD.

(Formerly : Laxman Singh Jariwala)

Balwant Jain- *Chairman*

A-42, Mayapuri, Phase-1, New Delhi-110064
Phone : 5144496, 5131086, 5132203
Fax : 91-011-5131184
E-mail : laxman.jariwala@gems.vsnl.net.in

"ऐसा विश्वास दिल में जमाते चलो
सिद्ध अरिहन्त को मन में रमाते चलो,
वक्त आयेगा ऐसा कभी न कभी
सिद्धि पायेंगे हम भी कभी न कभी ।"

KUSUM CHANACHUR

Founder : Late Sikhar Chand Churoria

Our Quality Product of Chanachur.

Anusandhan, Raja,
Rimghim, Picnic,
Subham, Bhaonagari Ghantia.

Manufactured By
M/s K. C. C. Food Product
Prop. Anil Kumar, Sunil Kumar Churoria
P.O. Azimganj, Pin - 742122
Dist : Murshidabad
Phone : Code : 03483 No. : 53232
Cal. Phone No. : 033 2300432, 5213863

With Best Compliments...

MARSON'S LTD

MARSON'S THE ONLY TRANSFORMER MANUFACTURER IN EASTERN INDIA EQUIPPED TO MANUFACTURE 132 KV CLASS TRANSFORMERS

Serving various SEB's Power station, Defence, Coal India, CESC, Railways, Projects Industries since 1957.

Transformers type tested both for Impulse/Short Circuit test for Proven design time and again.

PRODUCT RANGE

Manufactures of Power and Distribution Transformer from 25 KVA to 50 MVA upto 132kv level.

Current Transformer upto 66kv.

Dry type Transformer.

Unit auxiliary and stations service Transformers.

18, PALACE COURT
1, KYD STREET, CALCUTTA - 700 016
PHONE : 229-7346/4553/226-3236/4482
CABLE-ELENREP TLX-0214366 MEL-IN
FAX-00-9133-2259484/2263236

मानव जीवन नश्वर हैं उसमें भी आयु तो बहुत ही परिमित है

एकमात्र मोंक्ष मार्ग ही अविचल है यह जानकर

काम भोगो से निवृत हो जाना चाहिए।

*

G.C. Jain

A-40 N.D. S.E-11
New Delhi - 110049
Tel : 625-7095/0330

WB/NC-330
Vol. XXIII No. 1—6 TITTH AYARA April-September 1999
Registered with the Registered of Newspapers for India
under No. 3018/77

कोहो पीइं पणासेइ, माणी विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो।।

क्रोध प्रीति का नाश करता है,
मान विनय का नाश करता है,
माया मित्रता का नाश करती है,
और लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है।

Kamal Singh Rampuria
Rampuria Mansions
17/3 Mukhram Kanoria Road, Howrah
Phone No. : 666 7212/7225